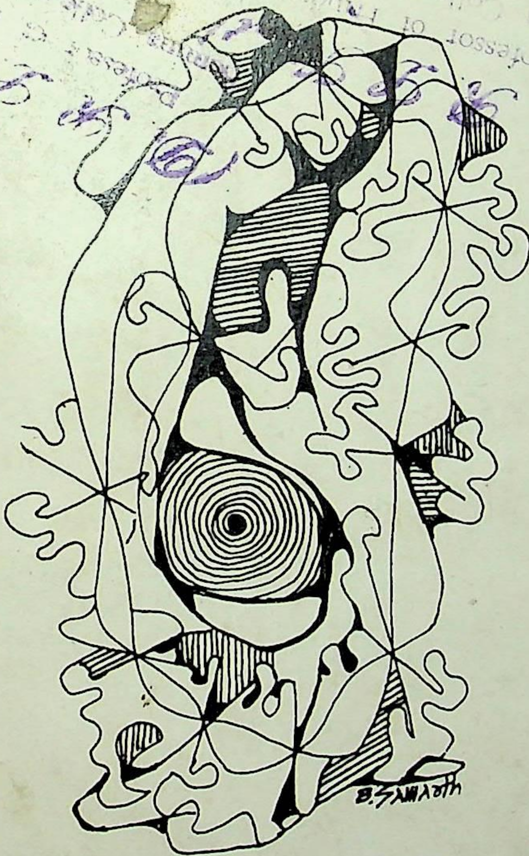
शीराज़ा
हिन्दी



मूल्य : दो रुपये

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, जम्मू

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : १६ दिसम्बर '८३—जनवरी '८४ अंक : ५

कश्मीरी लोकोक्तियों में वर्णित—भट्टों का चारित्रिक संदर्भ

□ डॉ० अग्निशेखर

कश्मीरी भाषा में लोकोक्तियों की बहुतायत तथा उनका दैनन्दिन जीवन में प्रचलन उसकी समृद्धि का सूचक है। इस भाषा को बोलने वाली अनेक पीढ़ियां जीवन के अनुभवों को अपनी मेधावी सूझ-बूझ का स्पर्श देती हुई उन्हें बारीकियों के साथ अभिव्यक्ति दे गई हैं। इन लोकोक्तियों में शासकों, सामाजिक तथा धार्मिक नेताओं, जनजातियों, विश्वासों, रीति-रिवाजों आदि अनेकों पहलुओं के प्रति लोगों की धारणाओं अथवा मान्यताओं का ब्यौरा बहुलता से मिलता है। इतना ही नहीं, कश्मीर घाटी के दुःखद इतिहास की घटनाएं भी इनकी पकड़ से बाहर नहीं हैं।

जनजातियों के संदर्भ में विशेषकर कश्मीरी पंडित समुदाय, जिन्हें कश्मीरी भाषा में 'बट' कहते हैं, को लेकर अनेकों लोकोक्तियां प्रायः प्रयोग में लाई जाती हैं। कश्मीरी भाषा में चूंकि महाप्राण व्यंजनों का उच्चारण अक्सर अल्पप्राण में परिवर्तित होता है, अतः 'भ' का 'ब' हो जाने की प्रक्रिया में 'भट्ट' शब्द 'बट' होकर सैकड़ों वर्षों से घाटी के पंडित-समुदाय का जातिवाचक नाम बना हुआ है।

कश्मीर प्राचीनकाल में भारतीय दर्शन, साहित्य, संगीत तथा संस्कृति का विख्यात केन्द्र रहा है, जो कि उक्त जाति की अथक एवं समर्पित साधना का परिणाम ही कहा जा सकता है। ये लोग प्राणों की बाजी लगाकर बर्फ़ और तूफानों से खेलते हुए दुर्गम पर्वतों के रास्ते यहां से लद्दाख, तिब्बत, चीन तथा मध्य एशिया तक बुद्धमत का संदेश ले जाते रहे हैं। अपनी परिश्रम-प्रियता और दृढ़-संकल्प के कारण ही इस लोकोक्ति 'बट गव ग्रट' में उसकी उपमा चक्की के साथ दी गई है अर्थात् वह चक्की की तरह कर्मठ एवं सुदृढ़ है।

एक अन्य लोकोक्ति 'बटस गय चेंड़' में उसे धैर्यवान बताया गया है, जिसकी गवाही के रूप में घाटी में पठानों के शासन काल का नृशंस इतिहास देखा जा सकता है। 'बटन गय

अकल बोंह' के अनुसार बटों की बुद्धि आगे को होती है अर्थात् उनमें दूरदर्शिता होती है, सूझबूझ होती है। वे बातों की गहराइयों में जाने के आदी हैं, बात में से बात निकालने की या खोद-खोदकर पूछने की उनकी आदत है। इसलिए प्रसिद्ध है 'बट छु कून कड़ान' अर्थात् बटा बातों के कोन निकालता है। संभवतः यही प्रवृत्ति उसे शंकालु बना देती है। ज़ाहिर है इसीलिए उसका व्यक्तित्व शंकाओं और अंधविश्वासों से जकड़ा हुआ भी परिलक्षित होता है। पं० आनंद कौल (दि कश्मीरी पंडित, पृ० ९) द्वारा उद्धृत सर ऑरेल स्टीन के शब्दों में 'वे अधिकांश भारतवासियों से बहुत अधिक अंधविश्वासी हैं।' यही कारण है कि कोई काम शुरू या समाप्त करने पर, घर से बाहर निकलने या घर लौट आने पर, कपड़े पहनने या बदलने पर आज भी कोई अगर छींकता है तो यह उसके लिए दुःखद या सुखद प्रभाव उत्पन्न करती है। उसका रास्ता काटने वालों में महिला, पुरोहित, गाय आदि का होना जहां अशुभ है, वहीं कुंवारी कन्या, भंगी, दूध बेचने वाला यदि उसका रास्ता काटता है तो उसके लिए सुखकर है। वह हर छोटे बड़े काम के लिए मुहूर्त देखने को विवश है। इस सम्बन्ध में लोकोक्ति है—'बट ख्यव शेंकि' अर्थात् बटे को शंका खा गई।

एक अन्य लोकोक्ति में उसकी उपमा बैंगन के साथ दी गई है—'बट गव वांगुन।' बैंगन की यह विशेषता सर्वविदित है कि वह प्रायः प्रत्येक सब्जी के साथ पकाया जा सकता है। विशेषकर कश्मीर में साग-बैंगन, कड़म-बैंगन, आलू-बैंगन, फूलगोभी-बैंगन, नदरू-बैंगन, टमाटर-बैंगन, लोकी-बैंगन, बंदगोभी-बैंगन, शलगम-बैंगन आदि अनेक वैष्णव तथा गैर-वैष्णव दोनों प्रकार की सब्जियों के साथ इसे पका हुआ देखा जा सकता है। ठीक इसी प्रकार कश्मीरी बटों के व्यक्तित्व में भी एक ऐसी लचक है जो उन्हें किसी भी परिवर्तित-अपरिवर्तित, अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में खुद को 'एडजेस्ट' करने में निपुण बनाती है। 'पठानों के शासनकाल में उसने कमर में पट्टी बांधी, पांव चकमें और दुलाक से सजाए और फारसी का अध्ययन किया, सिखों के शासनकाल में उसने लम्बी दाढ़ी रखी, डोगरों के शासनकाल में उसने लम्बी मूंछे रखीं, तत्पश्चात राजदरबार में भाषा के परिवर्तन को देखते हुए उसने दाढ़ी मुंडवाना प्रारम्भ किया तथा अंग्रेजी फैशन के कपड़े पहनना शुरू किया।'[1]

विगत छह-सात शताब्दियों में कश्मीर घाटी में इस्लाम के द्रुत प्रचार-प्रसार के परिणामस्वरूप बटों की जनसंख्या में भारी कमी हुई दीख पड़ती है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इनका सांस्कृतिक कार्य-क्षेत्र उत्तरोत्तर छोटा पड़ता गया, रिश्तों के दायरे सिकुड़ते गये। इसीलिए इस लोकोक्ति 'बट कानिज गय अल कानिज' में वर्णित है कि बटे आपस में ठीक कद्दू की बेल की तरह परस्पर सम्बंधित हैं। संभवतः प्राचीनकाल में इसी भावना से ओत-प्रोत होकर उनमें कौवों जैसी संगठित जीवन-शैली रही हो, जिससे आगे चलकर प्रस्तुत लोकोक्ति का सृजन हुआ हो—'बटा-बटा काव बटा' अर्थात् प्रत्येक बटा कौवा है, क्योंकि यह लोग कौवों की तरह आपस में एक-दूसरे की सहायता करते हैं, दुःख-सुख की घड़ी में परस्पर सहानुभूति रखते हैं। यहां पर यह कहना प्रसंग से बाहर न होगा कि उक्त लोकोक्ति की अर्थवत्ता के आगे आजकल सहज ही प्रश्नचिह्न लगा हुआ है। बटों की वर्तमान जीवन-शैली देखते हुए विश्वास नहीं होता कि उक्त लोकोक्ति कभी यथार्थ पर आधारित रही होगी। आजकल इसके विपरीत दो लोकोक्तियां चल पड़ी हैं—'बटस छुन बटसुंद खोश यिवान' अर्थात् एक बटा दूसरे बटे के सुख को देखकर प्रसन्न नहीं होता है तथा 'बटस बट खरान' के अनुसार बटे को बटा

---

१. पं० आनन्द कौल—'दि कश्मीरी पंडित', पृ० ४०।

पसंद नहीं अर्थात् वे परस्पर घृणा करते हैं। इतना ही नहीं वह किसी को अपने बराबर भी नहीं मानता है। इस संदर्भ में 'इस समय दुर्भाग्य से निम्नलिखित लोकोक्ति सही बैठती है—

काश्मीरी बा काश्मीरी गुफ्त
काशमीरी कि मन खलास शवम,

अर्थात् एक कश्मीरी अपने देशवासी कश्मीरी का विनाश चाहता है।'[1] उसके व्यक्तित्व का एक अन्य आयाम द्रष्टव्य है—'बट छु जिंद शुहुलात् मरिथ दुहुल'[2] जिसका भावार्थ है कि बटा जीवनकाल में शीतल और मरणोपरांत दुःखदायी है। जीवनकाल में शीतल होना उसकी सहनशीलता, विद्वत्ता तथा दयालुता की ओर संकेत करता है। वह अपने विख्यात दयालु स्वभाव के कारण कभी 'दयालु बटा' कहलाया होगा जो कालक्रम में विकृत होकर उसके लिए 'दालि बट' अर्थात् दाल खाने वाला बटा हो गया है। हालांकि कश्मीरी मुसलमानों की प्रायः दालें खाने की तुलना में बटों को 'दालि बट' कहकर चिढ़ाना हास्यास्पद-सा लगता है। जहां तक उसके मरणोपरांत दुःखदायी होने की बात है यह निर्विकार रूप से उसके मरणोपरांत कर्मकांड से जुड़ी हुई कुरीतियों की ओर इंगित करता है। यह अलग बात है कि प्रचलन में इसका यह अर्थ लोक प्रसिद्ध है कि जीते जी बटा कोई कष्ट नहीं देता है, परन्तु मरने के बाद उसके श्मशान घाट पर से गुजरना खतरे से बाहर नहीं।

वस्तुतः आध्यात्मिक ऊंचाइयों को प्राप्त करने वाले बटों का धार्मिक-जीवन कई दृष्टियों से अत्यन्त ही कट्टरपंथी भी रहा है। इसी से वह 'शिठ बट'[3] अर्थात् कट्टर बटा कहलाया। उसका यह कट्टरपन कालक्रम में उसके सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक पहलुओं को भी प्रभावित करता हुआ उसे अवनति के कगार पर ले गया। इस दृष्टि से इतिहास की कुछ घटनाओं को देखने पर अनुमान होता है कि कश्मीरी बटों का जीवन अपनी अद्वितीय बौद्धिक प्रभुता के दंभ में कुंठित भी रहा है। इतिहास उदाहरणों से भरा पड़ा है। लोकोक्ति द्रष्टव्य है—'बट बुदी नमूस्तुती'। अर्थात् बटों की (निषेधात्मक) बुद्धि को प्रणाम हो।

आजकल भी जब किसी कश्मीरी पंडित विशेष के लिए 'बट काख' विशेषण का प्रयोग होता है तो तत्काल आंखों के आगे एक ऐसे व्यक्ति की सूरत उभर आती है जिससे आप किसी प्रकार की सहानुभूति/सहायता की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। हालांकि 'काख' शब्द से ऐसी

---

१. पं० आनंद कौल—'दि कश्मीरी पंडित'—पृ० ४०

२. लोकोक्ति की दूसरी पंक्ति में मुसलमान के विषय में वर्णित है कि वह जीवनकाल में नहीं, मरणोपरांत शीतल है अर्थात् प्रचलित अर्थ में मरणोपरांत उसके मजार पर चलने में कोई खतरा नहीं है। पंक्ति इस प्रकार है—'...मुसलमान गव ज़िंद दुहुल त् मरिथ शुहुल'

३. प्रसिद्ध संत कवयित्री ललेश्वरी के एक वाख में भी 'शिठ बट' शब्द का प्रयोग हुआ मिलता है जिसमें उसकी धार्मिक कट्टरता पर प्रहार करते हुए कहा गया है कि हे कट्टरपंथी पंडित तुम यह किसका पूजन कर रहे हो। यह देव जो पत्थर रूप जड़ है, यह देवालय भी पत्थर का बना हुआ है, यह तो (ऊपर-नीचे) पत्थर ही पत्थर है। तुम्हें चाहिए कि अपने मन और पवन (प्राणायाम) को एकाकार करो—

'दीव वठा दीवर वठा
हेरि बोन छुय कुनुय वठा
कथ पूज़ करान छुख शिठबटा
मनस त पवनस कर संगाठ।'

ध्वनि नहीं निकलनी चाहिए थी। मूलतः बटा स्वभाव से एक आलोचक है जिस कारण वह हर प्रकार के भले-बुरे व्यक्ति को उसके चरित्र के अनुरूप कोई न कोई चिड़, जिसे कश्मीरी में 'र्‌यछ' कहते हैं, निकालने को विवश है। नवीन से नवीनतम चिड़ें निकालने की कला में उसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। कश्मीरियों में विशेषकर बटों में 'चिड़ों का प्रेम उनके रक्त में मिला हुआ है। इतना ही नहीं, उन्होंने इस कला को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने रक्त से पोषित किया है।'[1] कश्मीर में अधिकांश परिवार चिड़ों से ही जाने जा सकते हैं जो कि सर्वमान्य होकर जातिनाम बनी हुई हैं। यथा-वोखलू (उखली), ब्रारू (बिल्ली), हखू (शुष्क), गगरू (चूहे), मर्‌चवांगन (मिरचें), चोंग (दिया), कोकरू (मुर्गे), मोज़ा (जुराबें), शाल (गीदड़), चरिबच्च (चिड़िया का बच्चा), खर (गदहा), टेंग (टीला), खुड़ा (गड्डा), काव (कौवा), कोतरू (कबूतर), कुकिलू (कोयल), पछिन (भक्ष्य-पक्षी), थालचूर (थाली चोर), डुल्लू (तसलेनुमा बर्तन), कारिहलू (टेढ़ी गर्दन वाले), हाख (साग), गंगनू (बैंगन), मुजू (मूली), मंदलू (कुल्हे), कुचरू (जननेंद्रिय), जहरबाद (फोड़ा), वुगरा/ओगरा (नरम-भत्ता) आदि अनेकों चिड़े बटों की इसी उपरोक्त मानसिकता की उपज हैं जिसे प्रस्तुत लोकोक्ति में इस प्रकार स्वर मिला है—'बटन निश छा रंग रटुन' अर्थात् बटों को क्या, वे किसी भी प्रकार की आलोचना/निंदा कर सकते हैं।

'तोह हा बटा' और 'बट वल्दि पोंस'[2] इन दो लोकोक्तियों से उसके चरित्र के दो और पहलू उद्‌घाटित होते है। 'तोहा हा बटा' के अनुसार जहां बटा भूसे के समान हल्का है अथवा सहज ही उत्तेजित होता है, वहां वह 'बट वल्दि पोंस' के अनुसार पैसे का जाया है अर्थात् पैसा उसकी दुर्बलता है। उसकी घोर धार्मिक प्रवृत्ति उसके जीवन को कई रूपों में प्रभावित करती है। 'बटस बोड़ दोह त फाक़'[3] में वर्णित है कि बटा बड़े दिन पर उपवास करता है। स्नान-सन्ध्या के प्रति वह इतना अधिक समर्पित है (प्राचीन काल की बात होगी) कि प्राणघातक सर्दी के मौसम में भी जमे हुए पानी (तुलकतुर) को तोड़कर नहाने से परहेज नहीं करता जिसका चित्र इस लोकोक्ति में हुआ है—'बट मरि मागि' अर्थात् बटा माघ मास में मरेगा। दरअसल वह स्वभाव से सफाई पसंद है। वह घर में भूखे पेट रह सकता है किंतु घर से बाहर वह सज-धजकर घूमता दिखाई देगा, जिसका प्रमाण इस लोकोक्ति में द्रष्टव्य है—'यड़ मुचरिथ छुन कांह वुछान,

१. आर०के० कौल—'सोशॉलोजी आफ नेम्स एण्ड निक्‌नेम्स आफ इण्डिया, विद स्पेशल रेफरेंस टु कश्मीर'—पृ० ९२।

२. पूरी लोकोक्ति इस प्रकार प्रचलित है—

नेचुव वल्दि कोलय
बट वल्दि पोंस
मुसलमान वल्दि मजहब
सिख वल्दि श्राख

अर्थात् पुत्र पत्नी का, बटा पैसे का, मुसलमान मजहब का और सिख तलवार का बेटा है।

३. यह पूरी लोकोक्ति की एक ही पंक्ति है, शेष दो पंक्तियां मुसलमानों तथा शिया-समुदाय के बड़े दिनों से सम्बंधित हैं जिसमें बतलाया गया है कि मुसलमान अपने उत्सव-त्यौहार पर भेड़-बकरे मारता है और जबकि शिया लोग बड़े दिन पर रोते-विलपते हैं। पूरी लोकोक्ति इस प्रकार है—

वटस बोड़ दो त फाक
मुसलमान न बोड़ दोह त श्राक
शियन बोड़ दोह त बाक

'तिन छि सारी वुछान' अर्थात् कोई यह नहीं देखता है कि अमुक कैसा खाता-पीता है, सब यह देखते हैं कि वह कैसा पहनावा पहनता है।

एक अन्य लोकोक्ति में कहा गया है कि बटा पीतल के एक विशेष प्रकार के बर्तन के समान है जो शीघ्र ही गरम और शीघ्र ही ठंडा पड़ जाता है। उसे क्रुद्ध होने में उतनी ही देर लगती है जितनी कि शांत होने में। लोकोक्ति इस प्रकार है—'बट छु बुटलापिह-ज़ाच, जल्दी तातान त जल्दी ती'रान।'

'बट गव तख्युक' के अनुसार बटा तक्षक के समान है अर्थात् सर्प स्वभाव वाला होता है। वह सताए जाने पर पौराणिक पात्र तक्षक के समान प्रतिशोध लेने की आग को उपयुक्त अवसर आने तक अपने सीने में दबाए रखता है। प्रस्तुत लोकोक्ति का अर्थ प्रायः गलत ढंग से लगाया जाता है जिसको देखते हुए उस पर 'कहा भयो पयपान कराए, विष नहिं तजत भुजंग' वाली सूरदास की बात चरितार्थ होती है। लोकोक्ति में 'तख्युक' शब्द का प्रयोग प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से घाटी में प्राचीन कालिक नाग-संस्कृति की ओर साभिप्राय संकेत भी है।

'बटयार गव कांपिर नार' नामक लोकोक्ति तक आते-आते बटों की मानसिकता के विकास की दिशा का बोध स्वयंमेव हो जाता है। लोकोक्ति के अनुसार बटों से मित्रता की तुलना चीड़ के धधकते शोलों से की गई है। सर्वविदित है कि चीड़ के शोले तुरन्त ही बुझ जाते हैं, ठीक उसी भांति बट-मित्र भी जल्दी ही ठंडा पड़ जाता है। लोकोक्ति का भावार्थ है कि अपना उल्लू सीधा कर लेने के पश्चात् उसकी दोस्ती फीकी पड़ जाती है। एक अन्य लोकोक्ति (जो प्रायः कश्मीरी मुसलमानों में प्रचलित है) में भी उक्त भावार्थ की अभिव्यक्ति मिलती है जिसमें कहा गया है कि बटे की सेवा नहीं करनी चाहिए, वह सौ साल के बाद तुम्हें त्याग देगा। अर्थात् वह कृतघ्न है—

'खज़मथ कर्यजेन बट गानस
हत्य वहिर्य दपि गछ पानस'

जैसाकि अन्यत्र भी कहा जा चुका है कि लोकोक्तियों में अनेकों इतिहास-परक लोकोक्तियां ऐसी हैं जो ज्वालामुखी पर्वत की तरह गर्भ में दुःखद दिनों की आग लिये हुए हैं। एक प्रसिद्ध विद्वान्[1] के अनुसार इन लोकोक्तियों में कश्मीरियों के दुःख इतिहास की स्मृतियां और वर्षों तक उनके द्वारा सहे गये अत्याचार वर्णित हैं। 'कशीरि रुद्या काहै गर' से वह अतीत ध्वनित होता है जब धर्मांध विदेशी शासकों की तलवार के परिणामस्वरूप कश्मीर में बटों के ग्यारह घर बच रहे थे। अनुमानतः शेष लोग या तो भागकर दूसरे स्थानों में जा छिपे होंगे, जो भागे नहीं और अड़े रहे उनका थोक नरसंहार एवं धर्म-परिवर्तन हुआ। कश्मीरी बोहरा-समुदाय का, प्राचीन काल में, 'लेजिबट' कहलाया जाना जिसका एक ज्वलंत प्रमाण है। वैसे भी कल्हणोत्तर इतिहास में विशेषकर पठान-शासन की नृशंसता देखकर इस लोकोक्ति पर अतिशयोक्ति का दोष नहीं लग सकता है। निष्कर्षतः उपरोक्त लोकोक्तियों में वर्णित कश्मीरी बटों का व्यक्तित्व दो समान भागों में विभाजित है, जिसके एक भाग में उनका सामाजिक-सांस्कृतिक गौरव प्रदीप्त है और दूसरे में कुंठाएं एवं अन्तर्विरोधों का धुआं गाढ़ा होता चला है। □

---

१. अर्नेस्ट एफ नेवे—'बियांड दि पीर पंजाल' पृ० ८५।

अपनी पगडण्डी

□ संजना कौल

उषा अवाक् रह गई थी उस दिन। बाबू के साथ विनीत इस मुद्रा में बात करेगा, उसकी कल्पना से बहुत परे की बात थी। बहुत घिसी-पिटी अंग्रेजी में, तेज स्वर में उसने बाबू से कहा था, "मुझे मालूम था, आप उषा को ही 'प्लीड' करेंगे। मेरी बात उषा तो समझने से रही और आप भी समझना नहीं चाहते। शी इज नॉट मेड फॉर द ऑफिस। शी इज मेड फॉर माइ-सेल्फ।"

उषा को लगा था, विनीत शुरू से ही उसे पंखा, फर्नीचर या कालीन जैसी कोई चीज समझता रहा है जिस पर 'मेड फॉर विनीत ओनली' का लेबल लगा हुआ है और वह जब जैसे चाहे, उसे इस्तेमाल कर सकता है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है।

विनीत के जाने के बाद अम्मा-बाबू देर तक उसे उपदेश देते रहे थे। पति के मुंह अधिक न लगने की सलाह दी थी और उषा यह भी न कह सकी थी कि सोचिए तो जरा, मैं किसलिए अपने-आपको गला रही हूं। छः सौ रुपये की क्लर्की करने में मेरा अपना कोई स्वार्थ है क्या?

दफ्तर के लिए तैयार होते हुए आज फिर ड्रेसिंग टेबल के शीशे में खुद को देखा। छरहरा बदन, उजला रंग, मोटी-मोटी पानीदार आंखें, कमर तक आने वाले लहरदार बाल। इसी रूप पर तो रीझ गया था विनीत। आज शादी के तीन साल बाद, उन दिनों को याद करने पर लगता है। कितनी कमजोर थी वह! विनीत के अभिजात संसार को उसने अपने सफर का अन्तिम पड़ाव कैसे मान लिया था? कितना अधूरा सत्य था यह सब!

बहुत मदिर थे विनीत के साहचर्य के वे क्षण और बहुत अछूता अनुभव था शादी से पहले की मुलाकातों का लम्बा सिलसिला जिसकी परिणति हुई है विनीत के आए दिन के गर्जन और नाराजगी भरी खामोशियों में, उषा की घुटन और अपनी असहायता की स्वीकृति में और साथ ही ससुर जी की दिल्ली से आने वाली चिट्ठियों में जिनमें अक्सर यह पूछा गया होता है कि बहू रानी नौकरी कब छोड़ रही है।

चौंककर उसने घड़ी देखी। नौ से ऊपर ही हो रहे थे। बिना कोई भी मेकअप किए

उसने बिन्दी लगाई और लापरवाही से साड़ी लपेटकर अखबार पढ़ रहे विनीत को फीकी मुस्कान से देखती हुई सीढ़ियां उतर गई।

दफ्तर में भी हरेक दिन की तरह वह बार-बार विचारों में डूबती रही। टेबल पर आधे से ज्यादा काम पेंडिंग पड़ा रहा, किन्तु उसके भीतर जमे हुए बोझ ने मानो उसके हाथों को भी पत्थर कर दिया था।

यही मेज थी उसकी। तीन-साढ़े तीन साल पहले इसी के पीछे बैठी वह फाइलें देख रही थी। अनीता ने पीछे से आकर उसे चिकोटी काट दी। उसकी फुसफुसाहट के साथ ही आंखें साहब के कमरे के सामने खड़े, नीले रंग का सूट पहने, उसे एकटक देखते हुए लम्बे युवक की ओर उठ गईं। अस्त-व्यस्त होकर उसने फाइल बन्द करके यों ही एक और फाइल उठा ली। थोड़ी देर बाद देखा, आगन्तुक साहब के कमरे में चला गया था। दृष्टि का वह पहला मिलन एक रोमांच से अधिक कुछ नहीं उत्पन्न कर सका था।

साहब से उसके बारे में जानकारी हासिल करने के बाद विनीत ने अपनी बुआ से विवाह का सन्देश भिजवाया था। इतना बड़ा सौभाग्य! अम्मा-बापू फूल गए थे। सबसे पहले चश्मा-शाही में दोनों मिले थे। विनीत की बातों को वह सलज्ज मुस्कान से सुनती रही थी और जीवन की सार्थकता को प्रत्यक्ष देखती रही थी। आज उन बातों के नये अर्थ खुल रहे हैं।

"एक बात बताऊं तुम्हें। मेरा मासिक वेतन तीन-चार सौ रुपये नहीं है कि घर की गाड़ी चलाने के लिए मुझे बीवी से नौकरी करवानी पड़े। फॉर योर इन्फरमेशन, आई हैव एनफ मनी, महीने के चार-पांच हजार मिलते हैं मुझे। नौकरी तो वही औरतें करती हैं जिनके हस्बैंड्स को बहुत कम तनख्वाह मिलती है। बताए देता हूं, शादी के बाद यह नौकरी छोड़ देनी होगी।"

वह अजीब द्वन्द्व में फंस गई। एकदम 'हां' नहीं कह सकी।

"तुम्हारे बॉस मेरे अच्छे फ्रेंड हैं। मेरी बीवी उनकी सबॉर्डिनेट बनकर रहे, मैं बहुत इन्सल्टेड फील करूंगा।"

उसने कुछ नहीं कहा। अभी-अभी खरीदे गए गुलाबों की पंखुड़ियां नोचने लगी। विनीत कुछ क्षणों तक उसे देखता रहा और फिर मुस्कराया, "हम आज पहली बार मिल रहे हैं और पहली बार खरीदे गुलाबों को इस तरह नहीं नोचते। जानती हो, गुलाब का रंग किसका प्रतीक होता है?"

उषा को लगा, रस के अनगिनत प्याले उसके गले से उतरकर उसके हृदय को सींच रहे हैं। एक बार बहुत मोह से विनीत को देखा और पहली मुलाकात के उस अनुभव को देर तक पीती रही।

विनीत अपनी कार से घर पहुंच गया था। नौकरी छोड़ने की बात अम्मा को बताई तो वे घबरा गईं, "तुम नौकरी छोड़ोगी तो सब कुछ कैसे होगा? पिंटू का आखिरी साल है बी० ए० का। तुम्हारे बाबू को इतना पैसा कहां मिलता है कि यह शादी कर सकें? फिर इतने बड़े घर में रिश्ता करते हुए कंगालों वाली बात तो नहीं चल सकती।" अम्मा की आवाज़ टूट गई, "ऐसी शर्त रखने की क्या सूझी उन्हें? तुम्हारी साड़ियां और जेवर तो अभी लाने ही हैं और वे तुम्हारे पैसे से आएंगे। दहेज के लिए भी उन्होंने मना नहीं किया है। पूरे साल के रीति-रिवाजों का मामला है। तुम्हारे बाबू अकेले कर सकेंगे यह सब?"

उस समय उषा को अम्मा की आंखों में बेटी के सुख की अदम्य लालसा दिखाई दी थी और उनका स्वर घबराहट और परेशानी से शिथिल होता हुआ लगा था, आज लगता है, सुख-

ऐश्वर्य से जगमगाते हुए अपरिचित संसार में जाने की इच्छा स्वयं उसमें भी तो थी।

उसने मां को दिलासा दिया था। खाने के नाम पर जल्दी से दो-चार कौर निगल लिये थे और विनीत की बातों के गुलाबी दायरों में गहराई तक डूबती चली गई थी।

बेटी की शानदार शादी और एक ही साल के रीति-रिवाजों ने बाबू को कर्ज़े में डुबो दिया था। बिना कुछ भी कहे-सुने उषा महीने की पहली तारीख को उन्हें दो-तीन सौ रुपये थमा देती थी। कम से कम सुरेन्द्र भाई के पांच हज़ार तो वे जल्दी से चुका दें जिनके लिए वे एकदम बाबू पर चढ़ दौड़ने को तत्पर हो रहे थे। सुरेन्द्र भाई के रुपये चुकता हो गए और अम्मा ने निश्चिन्तता की सांस लेने के साथ ही पीरज़ादा शमसुद्दीन के छः हज़ार रुपयों की बात छेड़ दी, "तुमने बहुत कुछ किया है, उषा अपने दूध का एक-एक घूंट मैंने तुमसे वापस ले लिया है। अब तुम नौकरी छोड़कर घर संभाल लो। विनीत जी भी तो कितने नाराज़ हो रहे हैं। पीरज़ादा के रुपये हम किसी तरह चुका देंगे।"

—उनसे भी रुपए लिए हैं तुम लोगों ने? उषा को झटका लगा।

—और क्या? इतना शानदार विवाह हुआ तुम्हारा, इतना सामान कहां से आ सकता था? हमारे पुरखे कोई खज़ाना छोड़ गए थे हमारे लिए?

— जब तुम लोगों को अपनी औकात मालूम थी तो इतनी शान दिखाने के लिए किस डॉक्टर ने कहा था?

अम्मा को भी गुस्सा आ गया और गुस्से में उनकी ज़ुबान से ताने-तिश्ने लगातार छूटते चले गए थे—अब तो हम ही बुरे हो गए। अब तुम बड़े घर की बहू हो न। तुम्हारी गृहस्थी बनवा दी, ससुराल में इतनी इज्ज़त दिलवा दी। अब हमें अपनी औक़ात न बताओगी तो क्या पहले बता देतीं?

उषा सुलग उठी—तुम लोगों ने मेरे लिए बहुत कुछ किया है, अम्मा, और मैं उसकी कीमत भी चुकाती रहूंगी। जब तक हरेक के रुपये चुकता न हो जाएं तब तक तो नौकरी नहीं ही छोड़ूंगी।

—तुम तो ऐसे कह रही हो, जैसे हमने बहुत गलत किया हो।

उषा ने ख़ुद को संयत किया—केवल तुम लोगों से नहीं, मुझसे भी कहीं ग़लती अवश्य हुई है। ख़ैर, जाने दो। बात को समाप्त करने के लिए वह चाय बनाने चौके में चली गई।

विनीत उसे लेने आया था। कार में बैठते ही स्टियरिंग सम्भालने के बजाय उसने उसे बांहों में घेर लिया—जानती हो, उषा! सुबह आठ-आठ बजे सोकर उठता हूं। कल तुम नहीं थीं न, मैं रातभर करवटें बदलता रहा। तुम नहीं जानतीं, उषा! तुम्हारे बिना क्षण कितने बोझिल हो जाते हैं।

वह बिना कुछ कहे मधुर दृष्टि से उसे देखती रही।

रात में विनीत के आलिंगन में बंधी हुई, उसके होंठों के उष्ण स्पर्शों को महसूसती हुई उषा को लगा, तीन साल पहले का विनीत लौट आया है जो उसका बहुत अपना है। प्रेम में आत्मविस्मृत, एकनिष्ठ। बिरला कार्पेट कम्पनी के अहंवादी मैनेजर से बहुत अलग, उसका अपना विनीत! कोई भी तो दीवार नहीं है उनके बीच में। एक-दूसरे में कितनी गहराई तक डूबे हुए हैं वे!

विनीत की बांहों का कसाव बढ़ गया—तुम नहीं चाहतीं, उषा! इस भाग-दौड़ से भरे संसार से जब भी हम चाहें, एकदम दूर चले जाएं। गुलमर्ग की पहाड़ियों में, शालीमार की

हरियाली में खोकर एक-दूसरे को पूरी तरह जान सकें ?

उषा उसकी बांहों में और अधिक सिमट गई—बहुत पहले से चाहती रही हूं। एकान्त ···फैला हुआ आकाश···और केवल तुम···और मैं।

इस बार विनीत ने उसका चिबुक चूम लिया – तुम्हें नहीं लगता, दस से शाम के पांच बजे तक की तुम्हारी नौकरी इसमें कितनी बड़ी बाधा बन जाती है ?

उसके बाहुपाश में उषा शिथिल पड़ गई, पर स्वर को ज़बर्दस्ती एक चहक से भर दिया—वो तो मैं अपने आपको बिज़ी रखने के लिए करती हूं।

विनीत उंगलियों से उसके बालों में कंघी करने लगा—मालूम है तुम्हें ! अनुरूपा भाभी हर पार्टी, हर लंच-डिनर में रमेश के साथ रहती हैं। सुनीता भाभी और कमल आए दिन पिक-निक मनाते रहते हैं। उपेन्द्र और सुषमा भाभी की शादी को पांच साल हो गए हैं। दोनों की जिन्दगी में कितनी ताज़गी है, तुम ख़ुद जानती हो। सच कहता हूं, उषा ! तुम यह नौकरी छोड़ दो। तुम्हें सारे सुख दे सकता हूं मैं।

यही तो चाहता है विनीत कि अधिक से अधिक समय तक उषा उसके साथ रहे। शरीर का सारा सत्त्व चूसने वाली उषा की नौकरी सचमुच उनके सम्बन्धों को भी शिथिल किए दे रही है। उसकी आंखें भीग उठीं और भावावेश में उसने विनीत के गले में बांहें डाल दीं—मेरे विवाह पर बाबू ने कुछ रुपये उधार लिये थे। वे चुक जाएं तो मैं नौकरी छोड़ दूंगी। अकेले कितना कर सकेंगे बाबू, इसीलिए घसीटे जा रही हूं। तुम क्या समझते हो, मुझे कोई शौक़ है सवेरे से शाम तक खटते रहने का ?

विनीत की आंखें विद्रूप से चमक उठीं। प्रेम-तरल स्वर रुखाई से भर गया—वाहवाही लूटने के लिए लम्बे पांव पसार लिये तुम्हारे बाबू ने···मम्मी-डैडी ने कोई मांग की थी क्या ? उस सारे तामझाम की क़ीमत वसूलने के लिए शादी के बाद भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ रहे। ख़ूब !

उषा जड़ बनी सुनती रही। विनीत के साथ अपने विवाहित जीवन को लेकर रचा गया उसका स्वप्न-लोक···विनीत के संसार में आने के बाद लगातार चौंधियाती हुई उसकी आंखें···उसे बेचारगी का बोध कराते हुए भाभियों के लिए कहे गए विनीत के प्रशस्ति-वाक्य··· दहेज का सारा सामान चुपचाप लेने वाले ससुर जी और सास रानी। सगाई में विनीत ने भी तो चुपचाप सोने की ज़ंजीर और एक हज़ार रुपये ले लिये थे। आज बाबू ने ग़लत किया है सब कुछ। उफ़ ! यह किस गुंजलक में फंस गई वह। उसका स्वप्न-लोक कैसा आतंक-लोक बनकर रह गया है उसके लिए !

विनीत ने उसे आलिंगन से मुक्त करके पाइप सुलगा लिया था। बहुत गम्भीर मुद्रा में उसने उषा की ओर देखा—मुझे आज मालूम हुआ, शादी के तीन साल बाद भी तुम पूरी तरह मेरी नहीं हुई हो। अभी भी तुम पर तुम्हारे अम्मा-बाबू का अधिकार है और मुझसे भी ज्यादा। हमारा जीवन किसी दूसरे की इच्छा से चलता रहेगा, मैंने नहीं सोचा था।

उषा की आंखों में उसका विवाह से पहले का जीवन तैर गया। उसमें केवल समस्याएं थीं। दीन आंखें और चिड़चिड़े चेहरे थे, और थी उसकी क्लर्की की आधार-भूमि पर खड़ी पूरी गृहस्थी। आज की इस ज़िन्दगी में विनीत का उफनता हुआ प्यार था। गुलमर्ग की दूधिया बर्फ और शालीमार की खुशनुमा हरियाली थी। कॉकटेल पार्टियों और तरह-तरह के मेहमानों की ख़ातिरदारी में उड़ने वाले हज़ारों रुपये थे। किन्तु उन हज़ारों रुपयों से अलग, उसके अपने

वेतन के छः-सात सौ रुपये ही उसकी वास्तविक संपत्ति थे। यहां की संपत्ति से बाबू को रुपये देकर वह ज़िल्लत कैसे मोल ले?

विनीत ने पाइप मुंह से निकालकर उसकी तरफ देखा—अगर तुम अपने ऊपर मेरा ज़रा-सा भी अधिकार समझती हो तो नौकरी तुम्हें छोड़ देनी होगी।

आतंक-लोक के एक कोने में सिमटी हुई उषा अन्तर्द्वन्द्व से बिल्कुल मुक्त हो गई थी। द्वन्द्व का स्थान अब आंसुओं ने ले लिया था जिन्हें वह भरसक पीने की कोशिश कर रही थी—आज तुम्हारी ज़बान से 'अधिकार' शब्द कैसे निकल रहा है, विनीत? तुम्हारे प्यार की परिभाषा क्या अधिकार से ही हो सकती है?

विनीत ठंडी नज़रों से उसे देखता रहा। उषा की आवाज़ कांप रही थी—कुछ भी हो, मेरे जीवन पर सबसे पहला अधिकार तुम्हारा ही है, विनीत! पर दुःख मुझे इस बात पर हो रहा है कि बाबू पर तुम्हें गुस्सा आया, मेरी नौकरी को तुम बार-बार कोसते रहे और एक बार भी मेरे अतीत के साथ मुझे अपना नहीं सके। कई बार सोचती हूं, तुम्हें सचमुच मुझसे प्यार है या मुझे अपने हुक्म की तामील करने वाली, बिस्तर की रौनक़ बनने वाली एक अदना बीवी ही समझते रहे हो तुम?

—कुछ भी सोचने के लिए तुम स्वतन्त्र हो। विनीत की नज़रों के साथ उसकी आवाज़ भी ठंडी थी। प्रेम की उस थरथराती, उषा के कानों को दुलारती हुई आवाज़ से बहुत दूर।

—असल में ग़लती मेरी भी है। मैं भूल ही गई थी कि मेरे प्रेमी की ज़मीन और मेरी अपनी ज़मीन में कितनी बड़ी दूरी है। बाबू रिटायर्ड क्लर्क न होकर कोई व्यापारी या तुम्हारी तरह किसी पूंजीपति के मैनेजर होते तो हमारा जीवन कुछ और होता। आज शादी के बाद मेरे-तुम्हारे संसार का यह अलगाव मुझे रुलाई से भर रहा है, विनीत! तुम समझ नहीं सकते।

विनीत को चुपचाप पाइप पीते हुए देखकर उषा को लगा, यह टकराहट की शुरुआत नहीं, ठंडेपन के उतर आने का पहला दिन है।

बेतहाशा शराब पीने लगा था विनीत और उषा को रोकने की हिम्मत भी नहीं होती थी। विनीत भी उसे किसी काम से रोकता नहीं था और न उसके प्यार में अब वह गरमाहट रही थी। अन्तरंग क्षणों में उषा के शरीर को कोमलता से दुलारने वाले हाथ उन्हीं क्षणों में अब हिंस्र हो जाते थे। फुरसत के समय हंसता-मुस्कराता हुआ, उषा को साथ लेकर किसी ख़ूबसूरत एकान्त जगह को खोजने वाला विनीत बहुत चुप रहने लगा था। लगता था, कम्पनी बन्द होने के बाद बुरी तरह टूट गया है। अपना नया-नया व्यापार शुरू किया था जो अभी तक जम नहीं पाया था। उषा को अपना आप अपराधी लगता रहता था। लगता था, उसकी नौकरी विनीत जैसे अहंवादी को बुरी तरह शरमिन्दा किए दे रही है।

बहुत डरते-डरते वह विनीत के सामने सोफे पर बैठ गई—बाबू द्वारा चुकाने को अब कुछ ही हज़ार रुपये रहते हैं। मैंने बैंक में कुछ रुपये जमा करवाये थे न, वह उन्हें देकर नौकरी छोड़ दूंगी। अब तो तुम्हें कोई शिकायत नहीं होगी न!

—तुम नौकरी छोड़ दोगी? विनीत अविश्वास से उसे देखता रहा।

—तुम्हें इतना आश्चर्य क्यों हो रहा है? उषा की समझ में कुछ नहीं आया।

—उषा, तुम्हें कैसे समझाऊं? अब मेरी पहले वाली नौकरी तो है नहीं। व्यापार की हालत तुम जानती हो। इतने बड़े बंगले का एक हज़ार रुपये किराया देना होगा। कार हमने ले रखी है। पेट्रोल का खर्चा जानती हो कितना आएगा? नौकर की तनख़्वाह देनी होगी। यह सब

तभी तो होगा जब तुम भी नौकरी करती रहो और अब तो तुम्हें प्रोमोशन भी मिल चुका है।

उषा फैली हुई आंखों से उसे देखती रही। कुछ देर बाद संयत स्वर में बोली—कार तुम बेच सकते हो। झूठी शान दिखाने से कोई फ़ायदा नहीं। हम इससे छोटा मकान ले सकते हैं या हब्बाकदल के पुराने मकान में जा सकते हैं। रही बात नौकर की तो घर का काम मैं ख़ुद कर लिया करूंगी…!

—शटअप। विनीत ने उसकी बात बीच में ही काटते हुए कहा था, तुम चाहती हो, गाड़ी बेचकर दोस्तों के मज़ाक सहता रहूं और हब्बाकदल के उस मुर्गीखाने में फिर से रहना शुरू करूं जहां से हड्डीतोड़ कोशिश के बाद निकल सका था। खैर…तुम नौकरी करती रहो। रिज़ाइन करने की कोई ज़रूरत नहीं।

विनीत का स्वर आदेशात्मक हो उठा था। उषा चुपचाप सुनती रही, फिर धीरे से बोली—गुलमर्ग और शालीमार को भूल गए क्या? तुम्हारी वह एकान्तप्रियता क्या हो गई? रुपये बहुत प्यारे लगने लगे हैं क्या?

—उषा! विनीत गरज उठा, तुम्हें अपनी नौकरी का बड़ा गुमान है शायद। कान खोल कर सुन लो, मैं…

—जानती हूं, तुममें अपने जीवन को ख़ुद बनाने की ताक़त है। लेकिन बाबू-अम्मा के लिए मैं नौकरी करती थी, तब तुम्हें नागवार क्यों गुज़रता था? बेटी के सुख के लिए ही उन्होंने रुपये उधार लिये थे ताकि मुझे यहां मम्मी-डैडी की बातें न सुननी पड़ें। मम्मी-डैडी ने किसी चीज़ के लिए मना नहीं किया था, पर तुम चुप क्यों रह गए थे? तुम तो रिएक्ट कर सकते थे न!

विनीत से उत्तर देते नहीं बना।

—सुन लो, विनीत। उषा के स्वर में न तो थरथराहट थी और न आतंक-लोक का भय, मैं यह नहीं सह सकती कि तुम जब चाहो, मुझे नौकरी छोड़ देने का हुक्म दे डालो, मेरे मां-बाप तक को कोसने लगो और जब तुम्हें इसमें फ़ायदा लगे, मुझे इस्तीफा देने से रोक लो। इस बनिया संस्कृति से अलग, मैं बराबरी के स्तर पर जीना चाहती हूं।

विनीत उत्तेजित होकर खड़ा हो गया—क्या चाहती हो तुम? डाइवोर्स?

उषा शान्त बनी रही—डाइवोर्स मैं नहीं चाहती। विवाह को लेकर मुझमें कोई अविश्वास या निष्ठाहीनता नहीं है। मैं चाहती हूं, हम एक-दूसरे के साथी बने रहें। एक-दूसरे के कंधे का सहारा लेकर जीते रहें। लेकिन तुम अगर डाइवोर्स ही चाहते हो तो मैं ज़बर्दस्ती तुम्हारे साथ चिपकी नहीं रहूंगी।

विनीत को लगा, गुस्से में वह क्या कह बैठा?

वहां से हटते हुए उषा ने नौकरी छोड़ने का इरादा एकदम त्याग दिया था और बहुत सहज हो आई थी। इस्तीफा देकर अपंग बन जाए और हर रात को विनीत के लिए शरीर बन जाए! कितना अपमानजनक! साथ ही उसने यह भी सोचा कि अब वह बाबू का रुपया चुकाने के लिए ही नौकरी नहीं करेगी। यही तो एक सीधा रास्ता है जिसे उसने ख़ुद ढूंढ़ लिया है, बावजूद चारों ओर फैले हुए जंगल के। यही तो उसे अपने कुछ होने का अहसास कराता रहता है। अब उसे अपने लिए इससे कोई अच्छी नौकरी ढूंढ़नी होगी और उसके लिए वह कोशिश तो कर ही सकती है। ●

दो गीत

□ उषा व्यास

महुआ पिया फागुन ने
झांझर की झुमकी की
झूमर से बातें
अलबेले जोबन की
चूनर से बातें
नीलम के गजरे
गढ़वाये साजन ने
महुआ पिया फागुन ने

बौरों के होंठों पे
अमरस किलकारी
कचनारी कलियों ने
ओढ़ी फुलकारी
शहतूती टहनी को
बोल मारे जामुन ने
महुआ पिया फागुन ने

मोगरे ने रातों के
सगुनाए आंचल
ठिठकी-सी बजती है
सपनों की सांकल
करवटें कपूरी सोयीं
बिछावन ने
महुआ पिया फागुन ने

जंगल में डाल-डाल
फूली है आग

बंसी के झरने से
झरता विहाग
बांटी सौगातें
मौसम मन भावन ने
महुआ पिया फागुन ने

रूप की दरपन से
हुई थी अनबन
टिकुली ने जोड़ी
दोनों की सुनगुन
छल्ले पहनाये
मेंहदी मनिहारन ने
महुआ पिया फागुन ने

गूंथें अंधेरे-उजाले
की लड़ियां
सरसों-सी सोंधी
सांसों की कड़ियां
आओ पुकारा है
बाहों के आंगन ने
महुआ पिया फागुन ने ●

रिमझिम रिमझिम रिमझिम फुहार
बूंदों की बांसुरी में बजा मल्हार
कहते से लगे कुछ
जब अमलतास
सरक आयी हवा
कुछ पास और पास
झालरों में झूमा रुपहला दुलार
बूंदों की बांसुरी में बजा मल्हार

बंजर होंठों पे उगा
कोंपल-सा गीत
झूली घटाएं हिंडोले
की रीत

मनाया है नदिया ने
रूठा कगार

बूंदों की बांसुरी में बजा मल्हार
बादल के चीरे पे
सलमे की गोट
लजाई है सलोनी सांझ
आंचल की ओट
कहे ले लो नेहभीगा
मन उपहार
बूंदों की बांसुरी में बजा मल्हार

सोयी-सोयी जागी-सी
माटी महकीली
करती महावर से
बातें शहदीली
चुपके से हंसा किए
मोतिया के हार
बूंदों की बासुरी में बजा मल्हार •

दीनानाथ नादिम से एक बातचीत

☐ ज़फ़र अहमद

ज़० अहमद : नादिम साहब, आप की जन्म तिथि क्या है ? आप श्रीनगर के किस इलाके में पैदा हुए ?

नादिम : मेरी जन्म तिथि १८ मार्च, १९१६ है और मैं श्रीनगर के हब्बाकदल इलाके में पैदा हुआ हूं।

ज़० अहमद : हब्बाकदल के ऐतिहासिक महत्त्व के विषय में कुछ बताइए।

नादिम : हब्बाकदल के विषय में अनेक मत हैं लेकिन प्रायः यह कहा जाता है कि हब्बा ख़ातून जो यहां की मशहूर मलका रही हैं मेरे जन्म स्थान के पास ही दरिया के पार एक मुहल्ले (जिसको बालय-पारबल कहते हैं) में रहती थीं अतः कुछ खंडहर और अवशेष भी वहां हैं जो प्राचीन ऐतिहासिक महत्त्व के हैं और उनके बारे में विचार है कि वे हब्बाख़ातून के हैं, और वह कदल (पुल) उसी समय बनाया गया था। यह भी कहते हैं कि कोई हबीबुल्लाह पठान गवर्नर थे जिनके समय में यह बनाया गया था।

ज़० अहमद : जिस जमाने में आपने होश सम्भाला उस जमाने के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर कुछ प्रकाश डालिए।

नादिम : उस समय के हालात बड़े दुःख भरे थे। हमारी आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ी हुई थी। आम लोगों को जीवन की साधारण आवश्यक वस्तुएं भी उपलब्ध नहीं थीं अतः मैंने जब होश सम्भाला तो मुझे याद है एक प्रकार की अकाल की-सी स्थिति उत्पन्न हो गई थी। यह १९२० की बात है। अनाज इतना दुर्लभ था कि बड़ी दिक्कतों से मिला करता था और वह भी बड़े दामों पर साधारणतया लोग भूखों मरते थे। राजनैतिक स्थिति यह थी कि शख्सी राज (तानाशाही) ने लोगों के सभी अधिकार छीन लिये थे। मुझे याद है पहली बार जब इस अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठी, यह सम्भवतः १९२५ की बात है जब लार्ड रीडिंग यहां वायसराय बनकर आए थे। साधारणतया जब कोई नया वायसराय

भारत आता था तो उसे काश्मीर आने का शौक होता था। यहां की एक प्रसिद्ध मान्यता यह थी कि जब वायसराय आता है तो कुछ न कुछ हो जाता है, वबा आ जाती है, बीमारी फूट पड़ती है या अकाल पड़ता है। ऐसा इसलिए कि शायद हमारी मनोवैज्ञानिक स्थिति इससे सम्बद्ध है क्योंकि साधारणतया जब यह बड़े लोग बाहर से आया करते थे तो लोगों को यहां बेगार में जाना पड़ता था। जब वायसराय की सवारी जेहलम पर से गुज़री तो जनता ने ऊंची आवाज़ से एहतेजाजी नारा बुलन्द किया ' गदर, ग़दरे-बेदाद, ग़दरे-बेदाद फ़रयाद।'' उस ज़माने की आर्थिक स्थिति का अंदाज़ा आप इस एक बात से कर सकते हैं कि यदि हमें कहीं दावत पर जाना होता तो पूरे मुहल्ले में किसी एक व्यक्ति के पास कोट हुआ करता था जिसको बारी-बारी लोग इस्तेमाल करते थे और इसी तरह किसी एक औरत के पास उमदा वस्त्र हुआ करता था तो उसी को पहनकर औरतें किसी दावत या समारोह में जाया करती थीं।

ज़० अहमद : क्या आप महसूस करते हैं कि अब कशमीरी जीवन में मूल परिवर्तन आ गए हैं ?

नादिम : हां, काफ़ी परिवर्तन आ गए हैं, इसमें कोई शक नहीं है। जितनी उम्र मैंने गुजारी है उसमें काफ़ी ऊंच-नीच से भी गुजरा हूं। जब देश में आजादी की लड़ाई शुरू हुई तो इसका काफ़ी प्रभाव कश्मीर पर भी पड़ा। शुरू में सिर्फ महात्मा गांधी के स्वतन्त्रता आंदोलन का ही प्रभाव न था बल्कि भगतसिंह के आंदोलन का भी काफी असर था। अत: शख्सी राज (तानाशाही) के विरुद्ध आंदोलन ने जोर पकड़ा और इस प्रकार जनता में एहतजाज का जज़्बा पैदा हुआ। इससे पहले तो जैसे हम लोगों के मुंह में जबान ही नहीं थी। हमें महसूस हुआ कि देश के इन्क़लाब पसन्दों के स्वतन्त्रता आंदोलन और राज्य स्तर पर शेख साहब के नेतृत्व ने हमें पहली बार ज़बान प्रदान की और यहां के जन-जीवन ने एक नयी करवट ली।

ज़० अहमद : क्या जागृति की लहर देश के दूसरे भागों की तरह जोरदार थी ?

नादिम : लगभग ! लेकिन जलियांवाला बाग की खूनी घटनाओं की जो घोर प्रतिक्रिया हुई वैसा उबाल यहां १६३१ में आया। और इसके बाद स्वतंत्रता संग्राम में हम देश के लोगों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे।

ज़० अहमद : नादिम साहब, आपने शे-'-र (कविता) कहना कब शुरू किया और इसके लिए प्रोत्साहन कहां से मिला ?

नादिम : मुझे शे-'-र कहने का प्रोत्साहन आंतरिक एवं बाहरी स्थितियों से मिला। मैं बड़ी कम उम्र में अनाथ हो गया था। उन दिनों मेरे सभी सम्बन्धी मुझसे मिलने से कतराते थे बल्कि वे मुझे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनका यह रवैया वस्तुत: उस समय की सामंतवादी व्यवस्था की पैदावार था। इस रवैये ने मेरे दिल में एहतेजाज, विद्रोह करने के भाव को उभारा। आक्रोश, एहतेजाज एवं विद्रोह जैसे मेरे इन भावों को अभिव्यक्ति की तलाश हुई। किन्तु उस समय लोग कश्मीरी की ओर कम ध्यान देते थे : उर्दू की बड़ी चर्चा थी। सम्भवत: इसका कारण था कि यह उर्दू के जो मुशायरे हुआ करते थे या जो ड्रामा कंपनियां आती

थीं वह उर्दू के ड्रामे लेकर आती थीं। यही नहीं बल्कि यहां भी जो ड्रामा कंपनियां बनीं उन्होंने भी उर्दू को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस क्रम में आगा हश्र, बेताब, मिर्जा रुस्वा और अमानत के ड्रामे स्टेज किए गए। यहां की राज्य भाषा उर्दू थी। अतः उस ज़माने मे —

सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाज़ु-ए-क़ातिल में है

जैसे इनक़लाबी अशआर (क्रांतिकारी छन्दों) की गूंज गली-गली सुनाई देने लगी। इसके साथ-ही हाली, नादिर काकोरवी, चकबस्त, इक़बाल, हफ़ीज़ जालंधरी और रामप्रसाद बिस्मिल की नज़्में जनता की ज़बान पर थीं। अतः यही एक रास्ता था कि इसी (उर्दू) भाषा में कविता की जाए।

ज़० अहमद : प्रारम्भ में आप किन विषयों से अधिक प्रभावित रहे?

नादिम : प्रारम्भ में मेरी शायरी पर देश भक्ति का अधिक प्रभाव था, इसका कारण इक़बाल और चकबस्त थे। इसके बाद जोश, एहसान दानिश और अन्य शायरों का भी काफ़ी असर रहा। एहसान दानिश तो एक प्रकार से मेरे गुरु भी थे। मैं अपनी नज़्में ग़ज़लें उनके पास इसलाह के लिए भेजा करता था।

ज़० अहमद : जैसा कि आपने फ़र्माया शायरी आपने उर्दू में शुरू की लेकिन बाद में आपने कश्मीरी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, इस परिवर्तन का कारण?

नादिम : इसके तीन प्रमुख कारण हैं। प्रथम यह कि मेरे नाना पंडित वैषनव भट्ट कश्मीरी में शे'र कहा करते थे, मेरी मां भी जिनका नाम सुख सुन्दरी था और जो घर में सुख माली कहलाती थीं उन पर नाना का काफ़ी प्रभाव था और उन्होंने भी कश्मीरी में अशआर (कविताएं) कहने की कोशिश की थी। दूसरा कारण यह था कि १९३८ में जब यहां स्वतन्त्रता आन्दोलन अपने चरम बिन्दु पर था नेशनल कान्फ्रेन्स की स्थापना हुई थी। इस आन्दोलन में मैं एक कर्मठ कार्यकर्त्ता के रूप में शामिल था जिसके बदले मुझे काफ़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ीं। जेल भी जाना पड़ा। और जब आन्दोलन को कुचलने का काम प्रारम्भ हुआ तो पुलिस मेरी सारी नज़्में ज़ब्त करके ले गई। यद्यपि वह सारी नज़्में उर्दू में थीं मगर कश्मीरी में लिखने की प्रेरणा इस तरह मिली कि उन दिनों महजूर कश्मीरी की नज़्म "वलोहा बागवानो नौबहारक शान पैदा कर" गाई गई थी और स्वयं शेख साहब ने गाई थी। देश-प्रेम से पूर्व यह नज़्म लोगों के दिलों में घर कर गई थी। इस नज़्म की लोकप्रियता से मुझे यह अनुभव हुआ कि हमें भी अपनी ही भाषा में लिखना चाहिए। अतः कश्मीरी में मैंने पहली नज़्म "मादरे कश्मीर' लिखी जो कश्मीर के विषय में थी। तीसरा कारण यह था कि आन्दोलन के सम्बन्ध में मुझे गांव-गांव जाना पड़ता था। जहां मैंने अनुभव किया कि लोग कश्मीरी की तुलना में उर्दू में कम रुचि रखते थे। कश्मीरी में लिखने का एक कारण यह भी था।

ज़० अहमद : खूब।

नादिम : सम्भवतः १९४६ से कश्मीरी में शायरी बड़ी तेजी से होने लगी। यहाँ एक संस्था

बनाई गई जिसमें मिर्जा आरिफ़, अब्दुल हक़ बर्क और प्रेमनाथ परदेसी शामिल थे। इन लोगों ने १९४६ में ही, जब यहां मुशायरे की इजाज़त नहीं थी, एक मुशायरे की व्यवस्था की। उसमें मैं भी सम्मिलित हुआ था।

ज़० अ० : तो आप सोचते हैं कि इस ऐतिहासिक मुशायरे ने आप की सोच में कोई परिवर्तन उत्पन्न किया ?

नादिम : जी हां, मैंने महसूस किया कि कश्मीरी शायरी के स्वर को बदलने की ज़रूरत है और शायद मैं ही वह आदमी हूं जो कश्मीरी शायरी को नया स्वर प्रदान कर सके।

ज़० अ० : क्या आपके नजदीक मातृभाषा ही कविता सृजन के लिए आवश्यक है ? यदि हां तो इक़बाल और ग़ालिब की शायरी के बारे में आपका क्या विचार है ? जिनकी शायरी का अधिकतर भाग फ़ारसी में है। और उनके महत्त्व को भी स्वीकार किया जाता है।

नादिम : यह आवश्यक नहीं कि मातृभाषा में ही शायरी की जाए और वही अभिव्यक्ति का माध्यम भी बन सकती है। शायर किसी भी भाषा में शे'र कह सकता है शर्त उस भाषा में महारत हासिल करने की है। ग़ालिब और इक़बाल ऐसे ही बाकमाल शायर हैं।

ज़० अहमद : आप कश्मीरी में प्रगतिशील शायर माने जाते हैं। क्या यह सही है कि आप मानसिक या व्यावहारिक स्तर पर इस आन्दोलन से सम्बन्धित रहे हैं ?

नादिम : जी हां, मानसिक एवं व्यावहारिक स्तर पर इस आन्दोलन से सम्बन्धित रहा हूं बल्कि मेरी शायरी का उदय इसी आन्दोलन से सम्बन्धित है। इसने मेरी शायरी को सींचा है। और न केवल मेरी बल्कि रहमान राही, गुलाम नबी फ़िराक़ और यहां के अधिकतर शायरों की शायरी को भी प्रोत्साहित किया है। अली मुहम्मद लोन, सोमनाथ जुत्शी और हरिकृष्ण कौल आदि भी इस आन्दोलन से लाभान्वित हुए हैं।

ज़० अहमद : क्या आपने इस मत पर विचार किया है कि दृष्टिबद्ध या प्रतिबद्ध शायरी शायर को पाबन्द कर देती है ? क्या आपको कभी इस पाबन्दी का अनुभव हुआ है ?

नादिम : जरूरी नहीं है कि यदि कोई कलाकार अपनी कला में दक्षता रखता हो तो किसी भी दृष्टि या जीवन दृष्टि की अभिव्यक्ति कविता में कर सकता है। हां, यह सच है कि शायरी जब केवल नारा मात्र बन जाती है तो वह शायरी नहीं रह जाती, नारा मात्र ही रह जाती है।

ज़० अहमद : मेरे निकट आधुनिकता एक नया काव्यात्मक एवं वैचारिक रवैय्या है। आपका क्या विचार है ?

नादिम : हां, वैचारिक रवैय्या है और इसे होना भी चाहिए। इसकी ज़रूरत भी है। क्योंकि इकहरी शायरी तक हम सीमित नहीं रह सकते। शायरी उस समय तक अर्थहीन है जब तक वह Grass Root से उभरकर हमारी कल्पना के शिखर तक न जाए, यदि ऐसा न हुआ तो वह पाबन्द बन जाएगी और सिसक-सिसककर मर जाएगी। ज़रूरत है कि इस नये वैचारिक रवैय्ये और दृष्टि-

कोण को साथ लेकर हम चलें किन्तु इसमें मानव जीवन के उद्देश्य को नज़र-अन्दाज नहीं होना चाहिए। हम अपनी तनहाई की तलाश में तनहा न रह जाएं।

ज० अहमद : अपनी रचना-प्रक्रिया पर कुछ प्रकाश डालिए, क्या आप पहले कोई विषय निश्चित कर लेते है और फिर उसे शब्दों में ढालते हैं या अचैतनिक रूप से सृजन की प्रक्रिया में व्यस्त होते हैं ?

नादिम : प्रायः ऐसा हुआ है कि अचैतनिक रूप से किसी वस्तु से प्रभावित हुआ हूं। चाहे वह कोई घटना हो या दुर्घटना या कोई साधारण-सी बात। जैसे घास का एक तिनका है यह मुरझा गया है। कोई गाड़ी आती है और उसके ऊपर से गुजर जाती है। यह छोटी-सी घटना भी मुझे प्रभावित कर सकती है। बाह्य जीवन का कोई प्रभाव मेरे मन-मानस में आहिस्ता-आहिस्ता पलता रहता है और फिर अचानक फूट पड़ता है। तब मुझे अभिव्यक्ति की तीव्र आवश्यकता होती है।

ज० अहमद : समसामाजिक कश्मीरी शायरी की सृजनात्मक सम्भावनाओं के विषय में कुछ फरमाइए।

नादिम : मेरे विचार में कश्मीरी शायरी में सृजनात्मक सम्भावनाएं अत्यन्त विस्तृत हैं। हमारे यहां शायरी भी अन्य साहित्यिक विधाओं की भांति छोटी उम्र की है। नये फॉर्म और शायरी की जिन विधाओं को यहां आज़माया गया है उनकी उम्र भी बहुत कम है। इसलिए रचना प्रक्रिया जो अन्य भाषाओं में परिपक्व हो गई है और कई भाषाओं में तो चरम बिन्दु पर आ गई है, हमारे यहां अभी कमसिन है।

ज० अहमद : कश्मीरी भाषा की उन्नति के लिए आपके क्या सुझाव हैं ?

नादिम : एक सुझाव तो यह है कि इसे शिक्षा का माध्यम बनाया जाए। इसके अतिरिक्त कश्मीरी भाषा में अधिक से अधिक मुद्रण-प्रकाशन का काम होना चाहिए। एक बात लिपि के विषय में भी ? हमारी लिपि वही है जो उर्दू की है। केवल वर्तनी का अन्तर है। मेरे विचार में कश्मीरी लिपि में वर्तनी कम करके इसे और अधिक आसान बनाया जाए। स्वयं महजूर के ज़माने में जब इन्होंने कश्मीरी में गीत लिखे इतनी वर्तनी नहीं थी। फिर भी इनके गीत लोग पढ़ा और गाया करते थे।

ज० अहमद : दूरदर्शन तथा रेडियो इस सम्बन्ध में क्या सहायता कर सकते हैं ?

नादिम : बहुत सहायता कर सकते हैं। रेडियो ने तो सबसे बड़ी सेवा की है कश्मीरी भाषा और साहित्य की। क्योंकि २०-२५ वर्षों में जितने भी प्रोग्राम इस भाषा में होते रहे हैं उसने सचमुच इस भाषा एवं साहित्य को सींचने में बड़ी सहायता दी है। हमारी संस्थाएं भी इतना काम नहीं कर सकती थीं जितना रेडियो और दूरदर्शन ने किया है।

ज० अहमद : आप किन साहित्यिक और राजनैतिक व्यक्तियों से प्रभावित हुए हैं ?

नादिम : मैं सबसे पहले ग़ालिब से प्रभावित हुआ हूं। इकबाल से भी प्रभावित हुआ हूं। फिर चकबस्त ने भी प्रभावित किया है। जब युवावस्था को पहुंचा तो जोश, एहसान, दानिश और एक स्थानीय कवि 'मस्ताना', जो आमिल और दरवेश थे,

उनसे प्रभावित हुआ हूं। इनके अतिरिक्त पं० नेहरू, बरट्रेन्ड रसेल, माइकावस्की, चेख़व और अंग्रेजी क्लासिक्स के नवरोमांसवादियों से प्रभावित हुआ हूं।

ज़० अहमद : आपके कुछ समसामयिक शायरों का विचार है कि आप धीरे-धीरे माज़ी (अतीत) की आवाज़ बनते जा रहे हैं? आपकी क्या राय है?

नादिम : माज़ी की आवाज़ बनना बुरा नहीं है। हमारे यहां एक सांस्कृतिक संस्था बनी थी तो उस समय हमने उस संस्था के घोषणा-पत्र में कहा था कि हमें अपने सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों का नये सिरे से विश्लेषण करना है। आज भी मैं समझता हूं कि यह कोई बुरी बात नहीं है बल्कि अपने सांस्कृतिक मूल्यों को पुन: जीवित कर पाने के सम्बन्ध में एक सराहनीय कार्य होगा।

ज़० अहमद : हूं! क्या आप अपनी शायरी से सन्तुष्ट हैं?

नादिम : नहीं, मैं सन्तुष्ट नहीं हूं।

ज़० अहमद : आप से एक आखिरी प्रश्न—आपकी सबसे बड़ी आरज़ू क्या है?

नादिम : मेरी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी आरज़ू यह है कि मैं हर एक को हंसता हुआ देखूं।

ज़० अहमद : बहुत-बहुत शुक्रिया। □

गीत

□ राजेन्द्र परदेसी

बादल ने धूप तनी
आधे से काटी,
लाल हो गयी
गीली माटी,

ठहर गयी एक दृष्टि
माथे के फूल पर,
एक दृष्टि सहिजन की
अनफूली भूल पर,

टीले ने माथे तक भर आयी
झील की
अनथाही गहराई पाटी ।

भटके संदर्भों की बात
फिर गयी टाली ।
भीग गयी बूंदों में
एक देह हरियाली,

गइया ने खड़े सुआ-पंख
चरागाह में
बछवे की देह आज चाटी । □

दो गीत

□ नईम

नन्हा मुन्ना वसंत मेले में छूट गया,
शिशु के मन चीता
अलगोझा ज्यौं टूट गया।

पांचाल के पलाश,
कामरूप के गुड़हल।
दस्यु सुंदरी जैसी
मध्यदेश की चम्बल।
संग फौज-फाटे के रेले में छूट गया।

दक्षिण के रंगकर्म
हम तो केवल प्रेक्षक।
देश महागाथा-सा
जिसमें दसियों क्षेपक।
मंगल घट
द्वारों पर भरा हुआ फूट गया।

बल के अतिकार
और आत्महनन के अवसर,
मौसमी प्रसंगों में
जैसे नेता अफसर।
देवता बसंत
रिसाये शिशु-सा रूठ गया। □

बूंद होकर भी अकेले
बिन्दु से होते गए हम।
सूर्य होकर भी क्षितिज की
मांद में खोते गये हम।

चुक गए आशीष निष्फल मंत्र दुहराये,
रक्त के सारे सगे सम्बन्ध कुहराये।
घर समझ कर मकबरों में
उम्र भर सोते रहे हम।

दिन अनामंत्रित, दुपहरी-रात सौतों-सी,
सुबह संध्यायें मिली बेवक़्त मौतों-सी।
जानकर ओढ़े, बिछाये,
बुहारे, पोते गए हम।

चल रहे हम आज पूरे क़ाफिलों से,
दूरियों से नहीं—अंधे फासलों से।
हल चले, बक्खर फिरे फिर
कोल्हुओं जोते गए हम। □

गोकुल कामरेड

□ बन्धु शर्मा

मैंने सोचा तक न था कि मुझे इस पहाड़ी इलाके में बिछी ट्रांस्मीशन लाइन का मुआयना करने आना होगा, रास्ते में जीप बिगड़ेगी और मुझे उस छोटे-से टी-स्टाल पर इन्तज़ार में बैठना पड़ेगा। और यह भी होना था कि हाथ धोते हुए मेरी नज़र 'वाश बेसिन' के ऊपर दीवार से लगी तस्वीर पर पड़नी थी और स्मृति के तमाम धुंधलकों से उभरकर मैंने कामरेड गोकुल की आकृति को पहचान लेना था। वही सख्त चेहरा, बढ़ी हुई दाढ़ी और ऐनक के पीछे से झांकती दो तीक्ष्ण आंखें। खोखे के मुंडू ने पूछने पर बतलाया था कि कामरेड साब उसके बाबू के दोस्त हैं। पास ही केले के पेड़ों के झुरमुट में उनका घर है।

मैं सोचने लगा यह महज़ संयोग है या सब कुछ नियति द्वारा पहले ही निर्धारित हो चुका है? पर कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं जिनके घटित होने पर लगता है जैसे भीतर-ही-भीतर हम उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। घटना जैसे एक-ठो प्याज़ होती है और जिसके घटते ही हम पर्त-दर-पर्त उसके छिलके उतारना शुरू कर देते हैं।

उस दिन भाई साहब मुझे जीप में बैठाकर कॉलेज दाखिल कराने लाये थे और हममें कोई विशेष बातचीत नहीं हुई थी। प्रिंसिपल के कमरे से लेकर होस्टल सुप्रिटेंडेंट के कमरे तक का लगभग एक फलांग सफर भी हमने चुपचाप तय किया था।—अपने विचारों और चिन्ताओं में खोये हुए! भाई साहब मेरे लिए चिन्तित थे और मैं अपने लिए। सम्भवतः वे सोच रहे थे कि घर वालों से कटकर मैं अकेले कैसे रह पाऊंगा?

बार-बार मां और बहनों की आकृतियां स्मृति-पटल पर उभर आतीं—उदास-निराश। उनके सामने मैं हंस-हंसकर बातें करता रहा था—मां की भीगी पलकों से अपने अंतःस्तल को बेलाग रखते हुए। मां भाई साहब को बहुत कुछ समझाती रही थीं और फिर कुछ मुड़े-तुड़े नोट मेरी जेब में डाल दिए थे। तनिक मुस्कराकर भाई साहब ने जीप स्टार्ट की थी। न जाने जीप के चलते ही मैं एकाएक गुमसुम क्यों हो गया था। एक-आध बार चाहा था चुप्पी के शीशे को दरका दूं, लेकिन गले का बुक्का जैसे जम-सा गया था। लगता था आवाज निकलने से पहले आंखों से धारा-प्रवाह आंसू निकलने लगेंगे। बाबूजी घर पर न थे। वे अपने काम-काज के सिलसिले में

जंगल गए थे और कहकर भी मेरी रवानगी के दिन लौटे न थे।

सुपरिंटेंडेंट से बातचीत के बाद भाई साहब कुछ निश्चित हुए थे। मेरा सन्देह भी कुछ कम हुआ था। तब एक चपरासी के संग लम्बे कारीडोर से गुजरते हुए हम उस कमरे में आए थे जिसमें मुझे रहना था। कमरे के बाहर गत्ते से बनी 'नेम-प्लेट' टंगी थी, जिस पर सुस्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ था—"गोकुल साठे, थर्ड ईयर।"

'ओह ! तो यह हैं मेरे साथी।' मन-ही-मन मैंने सोचा। भाई साहब कुछ देर रुके और कमरे की छत, दीवारों और वहां पड़ी वार्डरोब, कुर्सियों और दूसरी चीजों का मुआयना-सा करते रहे। उन्होंने दीवार पर अंगुली रगड़कर देखा था कि चूना कच्चा तो नहीं ? मैं सामान करीने से रखता रहा। बीच में वह भी हाथ बंटाते जाते। "कमरा तो बुरा नहीं, सुरेन्द्र !" उन्होंने कहा। तेरे साथी का 'रेपूटेशन' भी खरा है।" कुछ क्षण रुककर बोले—"अच्छा, मैं चलूं अब।" चुपचाप उनके पीछे-पीछे मैं बाहर चला आया था। होस्टल के फाटक के समीप पहुंचते-पहुंचते उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा था—"घर यहां से ज़्यादा दूरी पर नहीं है। हर सैटरडे को सुपरिंटेंडेंट को बताकर तुम आ सकते हो। कभी वक्त मिलने पर मैं भी तुम्हें लिवाने आ जाया करूंगा।"

जीप चल पड़ी थी। जब तक वह आंखों से ओझल न हुई मैं एकटक उसी दिशा में देखता रहा था। कमरे की ओर लौटा तो सीढ़ियों में वही चपरासी चेहरे पर हंसी लिये मिला, जैसे पहचान की औपचारिकता से गद्‌गद हो।

अब मेरे लिए करने को कुछ न था। इसलिए एक बार फिर घर की यादों ने घेर लिया और मैं असहज हो उठा। खिड़की के पास आकर मैं बाहर की दुनिया देखने लगा। यहां के कालेज की इमारतें, खेल के मैदान, लोहे का बड़ा और काला फाटक, नीचे सर्पिल-सी काली सड़क। नदी के किनारे पहाड़ियों के दामन में बसा छोटा-सा कस्बा सामने था। चीड़ और सफेदे के सब्ज पेड़ों से घिरे लाल टीनों वाले मकान। सारा दृश्य एक मुकम्मल लैंड-स्केप तस्वीर की तरह चित्ताकर्षक और प्यारा था। सामने चर्च की ऊंची-ऊंची दीवारें और सलीब दिखाई दे रहे थे। स्वतन्त्रता से पहले यहां अधिकांशतः साहब लोग ही रहा करते थे।

किसी के आने की आहट हुई। मुड़कर देखा, मेरा रूम मेट सामने था।

"अच्छा, सुरेन्द्र जी ! तो आप चले आए ?" उसके मुंह से अपना नाम सुनकर विचित्र-सा लगा, क्योंकि अभी हमारी औपचारिक पहचान नहीं हुई थी। उसके बढ़े हुए हाथ में अपना हाथ दिया तो लगा मानो कोई हवलदार जैसे फुल कर्नल से हाथ मिला रहा हो। ऐसी असहज मनःस्थिति थी मेरी।

"आपके लिए सुपरिंटेंडेंट साहब ने पिछले सप्ताह बतलाया था—जब आपकी 'रेजीडेंट स्टूडेंट' बनने की 'एप्लीकेशन' आई थी।" इसी तरह औपचारिक बातों का सिलसिला हमारी पहली मुलाकात का आधार बना था।

मुझे याद है, पहली 'विंटर-वैकेशन्स' से कुछ दिन पहले कुछ साथियों के संग मैं 'बार-रेस्तरां' में गया था। कालेज पन्द्रह दिसम्बर को बन्द होने थे, लेकिन, उस साल कुछ पहले ही बर्फबारी हो गई थी। अनुपम अनुभव था। सारी रात हमारे सोते हुए बर्फ गिरती रही थी। सुबह उठे तो चारों ओर सफेदी-सी बिखरी हुई थी और इस पर सूरज की किरणें अनेक रंग छिटका रही थीं। आकाश धुला-धुला-सा था— नीलिमा-से नहाया हुआ।

क्लास में जाने का मन नहीं था। वैसे भी सर्दी की छुट्टियों से पहले के कुछ दिन अलसाये

और उदासी से बोझिल लगते हैं—शायद अपने कालेज-होस्टल के साथियों से बिछुड़ने के अहसास को लेकर या अपने घर पहुंचने की उतावली के कारण या फिर इन दोनों के मिले-जुले अहसास की वजह से।

तो भी अनमने मन से कालेज गया और वहीं दोपहर के शो का प्रोग्राम बना। सिनेमा से बाहर निकले तो सांझ घिर आई थी। हर ओर कोहरा छाया हुआ था। विचित्र और बोझिल वातावरण था। सीलन से भरी हवा, दुकानों-मकानों से उठते धुएं को संभवतः नीचे की ओर दबा रही थी—जिससे धुआं किनारों की ओर से ऊपर उठ रहा था और आने-जाने वालों की आंखों में काजल-सा डालता प्रतीत होता था। रेस्तरां के भीगे शीशों से झांकती शर्मीली रोशनी, आबनूस और शीशम की चमकीली मेज़ों के गिर्द, फूलदार प्यालों में भाप छोड़ती चाय पीते लोग और कंपकंपी की लहर छोड़ती ठंडी हवा—यह सब मायावी और लुभावने लगते।

"आओ, दोस्तो! मौसम की पहली बर्फ 'राक्सी' में सेलीब्रेट की जाये।" एक ने कहा और दूसरे ने समर्थन किया। मैं भी चुपचाप अपने संकोच को गहन अन्तस् में छिपाये उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। हल्की धुंधलाई रोशनी में मेज़ों के चौगिर्द बैठे मर्द-औरतें आहिस्ता-आहिस्ता बातें करते, मुस्कराते वातावरण को मदमस्ती का संगीत दे रहे थे। आरकेस्ट्रा की मद्धिम धुन पर तिरता एक सुरीला नारी स्वर और इससे गड्डमड्ड होते नशीले युवा कहकहे…।

'आरकेस्ट्रा पिट' के पास ही हम एक मेज़ के चौगिर्द जमे हुए थे। जब मेरी नज़र गायिका पर पड़ी तो जैसे वहीं जमी रह गयी थी। मैं मंत्रविद्ध-सा एकटक उसे देखता रह गया था। बड़ी आकर्षक छवि थी—बाब्ड हेयर, बादामी आंखें और सरू की तरह कद—प्रत्येक अंग सांचे में ढला-सा। इतने में एक वर्दीधारी बेयरा एक ट्रे में बीयर ले आया। मेरे इन्कार करने के बावजूद साथियों ने फेन से उफनता मग मुझे थमा दिया था। मस्ती और प्यार के संसार में यह मेरा पहला कदम था।

रेस्तरां के बाहर आये तो कोहरे की चुनरी के पीछे ठहरी शर्मीली रोशनियों में सोए-सोए-से बंगले ऐसे लग रहे थे मानो समन्दर में बादवानी किश्तियां उतर आई हों। ऊपर की ओर नज़र उठाकर देखा। सामने होस्टल की लाल टीन की तिमंज़िला इमारत दीख रही थी। कुछ कमरों में अभी रोशनियां जल रही थीं। अचानक मेरा ध्यान गोकुल साठे की ओर चला गया।… "ज़रूर किताबों में खोया होगा।" मैंने सोचा और उसके ख्याल को झटकने की कोशिश करने लगा।

वह मेरा काफी ध्यान रखता था और जैसे हरेक बड़ा व्यक्ति अपने से छोटे को नसीहतें देने लगता है, वह भी मुझे अच्छे-बुरे की पहचान करवाता रहता। जैसे कि—विद्यार्थी को खूब लगन से पढ़ना चाहिए, विद्यार्थी जीवन अनुशासनबद्ध होना चाहिए, मां-बाप के गाढ़े पसीने की कमाई को व्यर्थ गंवाना नहीं चाहिए। या फिर सर्दी में ज़्यादा देर बाहर रहने से निमोनिया हो सकता है, विद्यार्थी को शराब और औरत से बचने की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है, वगैरह-वगैरह। नसीहतें मैं सदा एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल दिया करता। मुझे इनमें कुछ भी नया न लगता। मन ही मन मैं हंसता, खीझता और कई बार उस पर तरस खाने लगता। "अपने जीवन से इतनी वफादारी और मेहनत करने वाले लोग सदैव ठगे जाते हैं।" मैं सोचता।

उसके पास कभी-कभार अनजान-से लोग आते। उससे आयु में बड़े और साधारण वेश-भूषा वाले—कामरेड टाइप। वे काफी समय बहसों में जुटे रहते और इस दौरान बीड़ियां और घटिया ब्रांड सिगरेट फूंकते रहते।

'पूंजीवाद, साम्यवाद, उपनिवेशवाद, बालेशेविज़्म, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, प्रसीडियम प्रोलतारी, बुर्जुआ, कार्ल मार्क्स, महाक्रान्ति, लेनिन और लाल सवेरा जैसे अनेक शब्द उनकी बहस में खूब आते जो कि मेरे लिए अपरिचित-से थे। कालेज में दाखिले के कुछ ही दिनों बाद उसने मुझे 'कपिटल' नाम की पुस्तक ला दी थी, जिसका मैंने एक पृष्ठ भी न पलटा था।

कालेज की साप्ताहिक बहसों में भी गोकुल खूब बोलता। उसका भाषण बहुत प्रभावशाली होता। कालेज में उसका अपना गुट था जिसे विद्यार्थी और प्राध्यापक 'रेड ब्लाक' कहा करते।

उसके जीवन में मैंने अधिक झांकने का जतन नहीं किया। और बहुत बाद में मुझे मालूम हुआ था कि वह अभावों में गुज़र कर रहा था। कालेज और होस्टल का खर्च वह सरकारी छात्रवृत्ति से और ट्यूशनें करके पूरा करता था। हम दोनों में एक विचित्र-सा अनलिखा 'एग्रीमेंट' था, जिसका हममें से किसी ने भी होस्टलवास के दौरान उल्लंघन न किया था। और वह यह था कि एक छत के नीचे रहते हुए भी हम एक-दूसरे से स्वतन्त्र अपने ढंग का जीवन जीते थे। चौबीस घण्टों में जितनी देर हम इकट्ठे रहते—उससे ज़्यादा तो शायद हम एक-दूसरे को सहन भी नहीं कर सकते थे। अपने लिए तो यह बात मैं दावे से कह सकता हूं।

उस रात अभी मैं कच्ची नींद में ही था, जब कमरे के किवाड़ खुलने और लोहे की पाइप से जूतों के रगड़ने की आवाज कानों में पड़ी। मेरी नींद खुल गई। टेबल लैम्प आन किया। गोकुल का बिस्तर खाली था। उतावली में उठ खड़ा हुआ। सामने वाला दरवाज़ा बन्द था। तब मैं गुस्लखाने से निकलकर बाहर कारीडोर में निकल आया। पिछवाड़े के किवाड़ खुले हुए थे। अब मैं कारीडोर की लकड़ी की रेलिंग के समीप खड़ा था। नीचे की ओर देखा। दूर-दूर तक कालिमा और चांदनी के तीतरपंखी छापे से लगे हुए थे। मैं हथेलियों से आंखों को रगड़ रहा था। तीन लम्बे ओवर कोट अपनी-अपनी परछाइयां लिये चीड़ और सफेदे के पेड़ों के नीचे पहाड़ी की ढलवान पर रस्सी की तरह फैली पगडंडी से पेंगुएन पंछियों की तरह नीचे की ओर ढल रहे थे। यह रास्ता कस्बे की ओर जाता था। गोकुल अपने कामरेड साथियों के साथ कहां जा रहा है—मैं अन्दाज़ा न कर पाया था।

रोज रात को ग्यारह बजे होस्टल का फाटक बन्द हो जाता था और इसके बाद गोरखा चौकीदार की तीक्ष्ण नज़र से बचना या बिना किसी विशेष कारण के फाटक का खुलना मुहाल था। इसीलिए मेरे साथी को चोर रास्ता अख्तियार करना पड़ा था।

मैं कितनी ही देर अंधेरे कारीडोर की रेलिंग को पकड़े खड़ा रहा था—जूतों तले सूखे पत्तों की दूर-दूर जाती चरमर आवाज़ को सुनता-सा। उस रात न जाने क्यों मुझे लगा था कि वक्त पड़ने पर यह व्यक्ति कठिन से कठिन काम कर गुजरेगा।

उस दिन वह बहुत विह्वल था।

उसने बतलाया था कि कल ही वह कालेज छोड़कर जा रहा है। कहां ? उसने मुझे नहीं बतलाया था। शायद इस बारे में उसने खुद भी नहीं सोचा था। वह सारी रात सोया न था और सुबह होस्टल छोड़कर चला गया था। मैं उसे विदा करने कालेज के 'गेट' तक आया था। वही काला-सा गेट, जिस पर मानो राणा प्रताप के भालें पिरोकर लगाये हुए हों, दोनों कपाट मगरमच्छ के जबड़ों की तरह खुले हुए थे।

यह हमारी अन्तिम मुलाकात थी।

चूंकि मैंने अपना अधिकांश समय 'राक्सी' होटल की गाने वाली के चक्कर में काटा था,

जोकि मुझसे लगभग पांच वर्ष बड़ी थी और जिसे शायद मेरा पागलपन ही कहा जाएगा— इस दौरान मैं गोकुल साठे को भूल-सा चुका था। 'राक्सी' की गायिका से रोमांस हालांकि मेरे लिए विद्यापीठ की हैसियत रखता था तो भी मैं पढ़ाई में पिछड़ता चला गया। उस वर्ष बड़ी कठिनाई से नकल-वकल के जोर से एफ० एस-सी० दूसरी श्रेणी में उत्तीर्ण कर पाया था। तब भाई साहब के जतन और खर्च के बलबूते पर एक इंजीनियरिंग कालेज में स्थान मिला था।

समय की दस वर्ष लम्बी खाई मेरे सामने थी। वक्त के चित्रकार ने उसके चेहरे पर कई रेखाएं खींच दी थीं। चेहरे को मन की आरसी ठीक ही कहा गया है। आंखें इच्छा-अपेक्षाओं के कब्रिस्तान बनी थीं। उनसे उदासी और असमंजस के सोते-से फूट रहे थे। बढ़ी हुई दाढ़ी, जिसमें चांदी के चन्द तार-से चमक रहे थे उसकी आकृति को पराजय के अहसास से पोत रही थी। वे नजरें जिधर भी देखतीं, असफलता और निराशा के फालिज गिरातीं। किसी समय कुन्दन-सा चमकीला रंग अब पुराने ताम्बे-सा गहरा हो आया था।

"कामरेड साहब ! मुझे पहचाना ?" मुस्कुराते हुए मैंने अपना हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया।

"वाह, क्यों नहीं ?" उसने उत्तर दिया और अपने हाथों में मेरा हाथ लपेट-सा लिया। "यदि दो फरलांग दूरी से आपकी पीठ भर देख लेता तो शायद आपको पहचानने में धोखा न खाता।" मेरी आंखों में झाँकते हुए उसने बात आगे बढ़ाई—'कहते भी हैं किसी के साथ चार कदम भी इकट्ठे चलें तो स्वतः एक सम्बन्ध बन जाता है। हम तो भला दो साल इकट्ठे रहे हैं।' उसके होठों से जैसे बातों का स्रोत फूट पड़ा था। अपने मेज के पास पड़ी बेंत की कुर्सी पर मुझे बैठाते हुए, खुद दूसरी कुर्सी खींचकर वह बैठने लगा था।

हाथ मिलाते ही लगा था उसकी हथेलियां तप रही हैं। पूछने पर उसने बताया था कि कुछ समय से कभी-कभार सीने में दर्द रहने लगा है, शरीर तन-सा जाता है और तबीयत सुस्त रहती है। "दवा-दारू चल रहा है।" वह मुझे सुना रहा था—' लेकिन पुलिस से बचते-बचाते कभी-कभी भूमिगत भी होना पड़ता है। इसमें परेशानी रहती है। कई बार बीमारी की दशा में भी भागना पड़ता है।

"इस खराबी से जेल क्या बुरी है ?" मैंने हंसते हुए पूछा ताकि गंभीरता का बोझ कुछ कम हो।

"पर इससे पार्टी का काम तो रुकेगा।" उसने सीधा-सा उत्तर दिया। यदि ऐसे ही वर्कर गिरफ्तार होते जायें तो पार्टी के प्रोग्राम का···"

मैंने उसकी बात काटते हुए कहा, "मुझे दुःख तो है कामरेड साहब कि आपने ऐसी पार्टी से गठबंधन किया जो देश की सीमा से बाहर झांकती है और रक्तिम क्रांति का नारा देती है।" मेरे भीतर का अफसर अपनी रवानी में कहता चला गया, "बिना खून-खराबे और अग्नि-कांडों के आपकी कल्पना का सामाजिक काया-कल्प क्या असंभव है।"

"बिल्कुल नहीं।" उसने दृढ़ता से कहा। नासूर जब मरहम-पट्टी से ठीक न हो तो उसे चीरा देना पड़ता है। पहाड़ों पर झरी सूखी वनस्पति को जला डालते हैं, ताकि लहलहाता सब्ज़ घास उगे।" अपनी बातों की मेरे चेहरे पर प्रतिक्रिया देखते हुए ठहरी हुई आवाज़ में उसने आगे कहा, "कोई भी अपने अधिकारों, सत्ता और सम्पत्ति को सुख-शांति से छोड़ना नहीं चाहता—चाहे इनकी नींव कितने ही आंसुओं और अत्याचारों पर क्यों न टिकी हो—पूंजीवाद का यही चरित्र है। जनता, जो संस्कारों की अफीम खाकर भाग्यवाद के चण्डूखाने में मस्त पड़ी

हुई है, अपने लुटेरों को नहीं पहचानती।" कुछ देर चुप रहकर वह कहने लगा, "हमें यह दुःख नहीं कि क्रांति खूनी होगी, हमें तो यह चिन्ता है कि हमारे जीते-जी क्रान्ति आयेगी भी या···?" उसका गर्माया चेहरा बुझने-सा लगा था। आंखों में हताशा-सी झलकने लगी थी।

मैं अपने मन में सोच रहा था रक्तिम क्रांति का सैद्धांतिक रूप से समर्थक होना और बात है, लेकिन, इसे साकार करने के लिए जिस हिंसा, खून-खराबे और अग्नि के अम्बारों से गुज़रने की बात है उसकी कल्पना-मात्र से सिहरन दौड़ जाती है।

कमरे में सन्नाटा व्याप रहा था। मौन तोड़ते हूए उसने अपनी गंभीर आवाज़ में कहा, 'प्रिन्सिपल की उस गुप्त रिपोर्ट ने मेरे जीवन को नया मोड़ दे दिया था। आर्मी में होता तो शायद मेजर होता, पर शायद अपने लोगों की सच्ची खिदमत न कर पाता।" कुछ क्षण रुक कर उसने दीवार पर टंके लाल झंडे-से कैलेण्डर को घूरते हुए मद्धिम स्वर में कहा, "डरता हूं, कोई ऐसा-वैसा रोग न हो।"

तभी वह सात-आठ वर्ष की लड़की जो मुझे सहन में मिली थी और मुझे किसी वक्त के अपने मित्र के पास पहुंचा गई थी, अब हमारे सामने चाय की प्यालियां रख रही थी। चुपचाप, गुमसुम थी वह।

मकान में गहरी चुप्पी-सी छाई हुई थी। मेरे कान कमरे की सीमाएं लांघकर भीतर की सुध ले रहे थे। कहीं कोई आहट तक न थी। मैं सोच रहा था कि इस छोटे-से घर में रसोई से उठती बर्तनों की टनक या खांसते गले की आवाज़ को इस कमरे तक आने से रोकना संभव न था। अब मेरा ध्यान खुले हुए किवाड़ों के उस ओर स्वतः चला गया था। ज़रूर वहां से मैली धोती में लिपटा रसोईघर के धुएं से सताया गया चेहरा नमूदार होगा। मेरा अन्तःकरण साक्षी दे रहा था। उसका सामना कैसे करना होगा? कैसा जीवन साथी ढूंढा होगा कामरेड गोकुल ने। क्या कहकर उसे सम्बोधित करूंगा? अनेक प्रश्न मानस-पटल पर उभरे हुए थे। भाभी, भरझाई बहुत निकटता के सम्बोधन हैं—आत्मीयता और अपनेपन के वाचक। भला ऐसी औरत से मेरी क्या बराबरी हो सकती है। बेचारी समझकर तरस खाऊंगा उस पर? लौटने के लिए उठते समय उसकी बच्ची की हथेली पर दस-बीस रुपये रखकर उनकी पुश्तों पर अहसान करने का दंभ भरूंगा। अनेक प्रश्न उभर आये थे।

स्वयं को ऐसी अवांछित स्थिति से छुड़ाने के लिए मैं कालेज के जमाने के कामरेड साथियों के बारे में पूछने लगा। निःश्वास छोड़ते हुए वह कहने लगा, "कौन किसी का साथ देता है? जीवन के इस मार्ग पर चलते हुए कई साथी दूसरी पगडंडियों पर चल पड़े। हां, कुछेक ने साथ निभाया।" सहसा वह चुप हो गया और लम्बा श्वास खींचकर कहने लगा, "जिसने साथ देना चाहिए था, वो भी छोड़कर चली गई।"

"चली गई?" मेरे भीतर यह वाक्य गूंजने लगा था। "कौन? क्यों?" प्रश्न स्वाभाविक था। शायद उसकी पत्नी मर-खप गई हो? कैसे? कब? क्यों? अनेक प्रश्न थे।

"किसी और के साथ घर बसाने।" तनिक ठहरकर उसने बात आगे बढ़ाई, "हो सकता है कि इन परिस्थितियों में उसका न जाना आश्चर्यजनक होता।" वह इस लहजे में कह गया था जैसे यह एक साधारण घटना हो। मैं सोच रहा था स्वभाव की इस स्थिति तक पहुंचने के लिये इस व्यक्ति को कितने कड़वे घूंट ढालने पड़े होंगे?

चाय खत्म होते ही लगा, कामरेड गोकुल के अनुभवों का सहयात्री होना मेरे जैसे

सुविधाभोगी व्यक्ति के लिए सपने में भी एक कष्ट साध्य अनुभव होगा। यह सोचकर मैं लौटने के लिए उठ खड़ा हुआ। गोकुल उठने लगा तो उसकी बेटी भीतर चली आई थी। उसके हाथ में एक मैला-कुचैला फर्द था, जिसमें असंख्य सुराख थे। उसने वो फर्द गोकुल के कंधों पर इस तरह से फैला दिया था, जिससे उसकी पूरी पीठ ढंप जाये।

मुझे भी ठण्डक की छड़ी-सी अपने हाथ-पैरों पर बजती महसूस होने लगी। लड़की खाली प्याली लेकर भीतर वाले दरवाजे की ओर जाने लगी थी तो जी में आया था उसे पास बुलाकर उसके रूखे, भूरे और जुड़े हुए बालों पर हाथ फेरूं और एक-आध नोट उसकी मुट्ठी में रख दूं। लेकिन, गोकुल की उपस्थिति ने मुझे ऐसा करने से रोक दिया था। मैं केवल इतना कह पाया था, "बच्चू, इनकी सेहत का ध्यान रखना।" लड़की सूनी आंखों से मेरी ओर नहीं दीवार की ओर देख रही थी। दीवार पर अजीब प्रकार के धब्बे फैले हुए थे। गोकुल चुपचाप केलों के झुरमुट तक चला आया था।

"अब मैं चला जाऊंगा। आप आराम कीजिए।" कहकर मैंने गोकुल की ओर देखा। बुखार से सुर्ख हुए उसके गालों पर बढ़ी हुई दाढ़ी के बाल सूईयों की तरह खड़े थे।

हवा के झोंके से उसका फर्द झकोरे खा रहा था। शरीर की कमज़ोरी ने उसके चौगिर्द विरक्ति का घेरा-सा तान रखा है। मालूम नहीं ऐसा क्या है जो इस व्यक्ति से बनावटी औपचारिकताएं निभाने से लगातार रोकता जा रहा है। आंखों से विदा मांग कर मैं ढलवान उतरने लगता हूं। उधर ढाबे के पास मेरी जीप खड़ी है। मैं मुड़कर देखता हूं। उसकी आंखों में कितना कुछ है—अनकहा, अनसुना।

सड़क पर आकर दोबारा उधर देखता हूं। वह खांसते हुए पगडंडी वाले रास्ते से केले के झुरमुट की ओर चला जा रहा है—हांफता हुआ, दमे के मरीज़ की तरह। उसके खांसने की खऊं-खऊं आवाज़ यहां तक चली आ रही है। □

डोगरी से अनुवाद : ओम गोस्वामी

कंचा-सा सुख

□ महेन्द्र कार्त्तिकेय

एक जगह
बैठे बैठे
हो जाती है ऊब,
निरन्तरता
में लगती है
शायद एकरसता,
मगर
यदि साफ साफ देखें
तो यह भी भ्रम होता है
कि नहीं होती है
किसी भी क्षण की
कभी पुनरावृत्ति
हर क्षण
नया क्षण
होता है
हर क्षण
नयापन होता है
सृष्टि
संसार में
कहीं नहीं हो कोई भी वस्तु
स्थिर
यह तो
सिर्फ

भ्रम ही हमारा है
जो कि
सहारा है
ज़िन्दगी का
और जीने का

मन
कंचन
तो
सब कंचन
मगर
पता नहीं क्यों
कंचा-सा कच्चा रहता है सुख

कभी
अगुलियों से नचाते हैं
कभी
अपनी ही
अंगुलियों पर नाचते हैं।



पानी चढ़ा, पानी उतरा

□ मोहिनी दत्ता

शाहजहांपुर ! भारत के नक्शे में यह शहर चिराग़ लेकर ढूंढने पर ही मिल पाएगा। परन्तु जब भी कभी इसका नाम सुनती हूं तो दूर दिल की गहरी खाइयों में एक भारी भरकम-सा पत्थर लुढ़कता हुआ चला जाता है।

बात उन दिनों की है, जब निचली मंज़िल में वीरां आंटी रहा करती थीं। उनके दो बेटे थे, विनोद और विनय। उम्र में दोनों ही मुझसे छोटे। सो सरसरी तौर पर ही उनसे बात-चीत हो पाती। या शायद वीरां आंटी की हरदम चढ़ी रहने वाली त्यौरियां देखकर उनसे मेलजोल बढ़ाने की हिम्मत नहीं होती थी। वैसे कुछ शर्मीला स्वभाव होने के कारण भी, कभी-कभार ही उनके घर मेरा आना-जाना हुआ करता था।

गर्मियों के दिन थे। एक दिन स्कूल से लौटकर आई तो देखा, गेट के पास बड़ी-सी काली कार खड़ी है। ऊपर अपनी मंज़िल के ज़ीने तक पहुंचते-पहुंचते आभास हो गया कि वीरां आंटी के घर काफी मेहमान आए हुए हैं। खैर, मुझे क्या ! न लेना न देना। मगर जब भारी-भरकम बस्ता फेंकने के बाद बरांडे में आकर खड़ी हुई तो दिल में एक अजीब-सी हलचल होने लगी। बच्चों की एक पल्टन सजधजकर कार की तरफ बढ़ी जा रही थी। विनोद और विनय भी साथ थे।

"हाय, राम, इत्ते सारे बच्चे ! सभी शायद घूमने जा रहे हैं इकट्ठे। कित्ता मजा आएगा ! हाय, अगर मुझे भी साथ ले जाते।" सोचकर एक ठंडी आह निकल गई। खाना-पीना भूलकर देर तक बरांडे में ही खड़ी रही।

किशोरावस्था की दहलीज पे पांव रखता हुआ चंचल बचपन, अपने ही कमरे में पुस्तकों में डूबा रहने वाला, भावुक व गंभीर मन, आज बरबस ही चाह रहा था कि सभी मेरे मित्र बन जाएं और सबके साथ मिलकर मैं भी झूमूं किलकारियां भरूं ! मगर यह सब संभव था भला !

फिर हमें गर्मियों की दस छुट्टियां पड़ गयीं। अब तो जैसे अपने कमरे में बैठना दूभर हो गया। नीचे वाली मंज़िल के बड़ों से कहकहों की आवाज़ें और बच्चों की धमा-चौकड़ी। मन बेचैन न होता भला ! हमारे घर के भी तो सभी शामिल होते, एक मेरे बग़ैर।

काश ! कोई मुझे भी नीचे बुला लेता। किसी तरह उस लम्बी फ्राक वाली लड़की के साथ मेरी मित्रता हो जाती। जो लगभग मेरी ही उम्र व कद-बुत की थी।

उसका सांवला रंग व सफेद रिबनों में गुंथी हुई दो चोटियां मुझे बहुत ही भली लगतीं।

एक दिन शाम का समय था। माचिस नहीं मिल रही थी। माचिस लेने मुझे नीचे भेजा गया। नीचे आई तो देखा बरांडे में चांडाल-चौकड़ी जमी है। गोल-सी मेज़ पर एटलस रखे, सभी बच्चे चील कौओं की तरह झपट रहे हैं। मुझे देखते ही विनोद बोल उठा—

"तुम्हें मालूम है शाहजहांपुर कहां हैं ?"

"शाहजहांपुर ! नहीं तो ! यह भी सचमुच कोई शहर है क्या ?" मैंने लगभग हैरान होकर पूछा।

"और नहीं तो क्या ! यह मधु, बंटी, पप्पू और इनके कजिन्स वगैरा वहीं से तो आए हैं।"

"तो इस लम्बी फ्राक वाली लड़की का नाम मधु है," मैंने मन-ही-मन दुहराया।

"लेकिन, मैंने तो आज पहली बार सुना है यह नाम।" मैंने मासूमियत से जवाब दिया मगर इस समय सब बच्चों के साथ आमना-सामना हो जाने के कारण मन खिल उठा था।

"सुषमी ! जरा तुम ढूंढ के बताओ।" विनोद ने एटलस मेरी ओर बढ़ाई। बस और क्या चाहिए था। यही तो अवसर था नये मेहमानों से मुलाकात करने का। "अच्छा ठहरो। मैं अभी ऊपर से होकर आई।"

एक ही छलांग में जीना लांघकर माचिस फेंकी और वापिस उनके पास पहुंचकर ही दम लिया। विनोद ने एक कुर्सी मेरी ओर खिसका दी। मैं अपनी कुर्सी उसी लड़की के पास खींचकर बैठ गई जिसका नाम विनोद ने मधु बताया था।

"शाहजहांपुर ! शाहजहांपुर ! शाहजहांपुर ! लेकिन मुझे तो कहीं दिख नहीं रहा," मधु भी मेरे साथ ही ऐटलस पर झुकी पड़ी थी। झट बोल पड़ी—यहां कहां देख रही हो ? ऊपर यू० पी० की साइड चलो।"

"अच्छा यहां ! लेकिन, मुझे तो मिल नहीं रहा।"

"लाओ यहां ! मैं बताती हूं। यहां से पहले दिल्ली, फिर मथुरा, फिर आगे···आगे··· आगे···यह रहा।"

"अरे ! इत्ता छोटा-सा। तुम लोग यहां रहते हो।" मुझे हंसी आ गई।

"अच्छा, लाओ। अब मैं भी तुमसे कुछ पूछती हूं। ढूंढ के बताओ।" मैंने टॉपिक को आगे बढ़ाने के भाव से कहा—मेरा मन हो रहा था आज हमारी चौकड़ी जमी ही रहे।

देर तक हम नगर, नदियां आदि ढूंढते रहे। सभी शाहजहांपुरवासी मेरे मित्र बन गए थे। मधु के साथ मैं बात करने के लिए तरस रही थी और आज तो पास-पास बैठे थे हंसते-खिलखिलाते।

बातों-बातों में पता चला कि दो चार दिन में ये लोग पहलगाम जाने वाले हैं। वहां से साधुओं की छड़ी के साथ अमरनाथ की यात्रा करने जाएंगे और रक्षा-बंधन के दिन पवित्र गुफा के दर्शन करके लौटेंगे।

अंधेरा घिरने लगा तो मैंने ऊपर जाने के लिए कहा। सभी मुझे छोड़ने ऊपर आए। बाकी तो सभी जल्दी चले गए, परन्तु मधु देर तक मेरे कमरे में बैठी रही। उस रात तो फिर

नींद पलकों को छूने तक का नाम नहीं ले रही थी।

बस, अब फिर तो रोज कैरम, खो-खो, क्रिकेट वगैरह के खेल जमने लगे। मधु के घर के सभी लोग रोज घूमने निकल जाते। बहुत बार मधु बहाना बनाकर उन्हें टाल देती और ऊपर मेरे पास आ जाती। मौका पाते ही हम मीना और चन्द्रकान्ता को उनके घर से बुलाकर लालमंडी के अजायबघर की ओर निकल पड़ते। वहां जब बोतलों में बंद पड़े मरे हुए सांपों, बड़े-बड़े जानवरों व कई तरह के पक्षियों और उनके अंडों को देख-देखकर उकता जाते, तो बाहर आकर बड़े-बड़े चिनारों की छांव तले चना-जोर-गरम खाते, भांति-भांति के महकते फूल तोड़ते, तो कभी उन पर मंडराती हुई रंग-बिरंगी तितलियों के साथ भाग-दौड़ करते।

किसी दिन जेहलम नदी की ओर निकल जाते और बंड पे चढ़कर नीचे कतार में खड़े हाऊसबोट्स और पानी पर तैरते हुए तितलियों जैसे रंगीन शिकारे और उनमें बैठे हुए रंग-बिरंगी पोशाकों में सजे हुए देशी-विदेशी लोगों को देख-देखकर तालियां बजाते, हाथ हिला-हिला कर विदा करते तो कभी स्वागत करते।

ये लोग अभी पहलगाम जाने की तैयारी कर ही रहे थे कि अंधाधुंध वर्षा आरंभ हो गई। सब लोगों का बाहर निकलना तक मुश्किल हो गया। अब तो ऊपर नीचे खूब धमा-चौकड़ी मची रहती। मधु और मैं घंटों बरांडे में बैठे गप्पें लगाते और वर्षा की फुहारों का आनन्द लेते रहते। पढ़ाई-लिखाई की तो छुट्टी हो चुकी थी।

रक्षा-बंधन का दिन भी आ गया परन्तु वर्षा थमी नहीं। हमारी पांच छुट्टियां और बढ़ गयीं। बस अब तो पौ बारह। सुबह सूर्य के निकलते ही हम हरकत में आ जाते और रात देर तक अलग होने का नाम ही न लेते। बड़े तो सभी चिन्तित दिखाई देते थे। उनके कार्यक्रमों में बाधाएं पड़ गई थीं। परन्तु हम खुश थे। हमारा तो अब चौबीसों घंटे का साथ था। कभी-कभी मेरा मन होता, वर्षा थमे, स्कूल खुले और एक दिन मधु को अपनी सहेलियों के साथ मिलाकर लाऊं। उन्होंने भी नहीं तो कौन-सा शाहजहांपुर का नाम सुना होगा। मधु को देखकर कितनी हैरान हो जाएंगी। सारी अकड़ धरी की धरी रह जाएगी। परन्तु इस तूफानी वर्षा ने तो जल-थल एक कर डाला था। मधु तथा औरों की अमरनाथ की यात्रा भी न हो पाई।

एक दिन घर से खूब डांट पड़ी। फलस्वरूप दोपहर का खाना खाते ही छुट्टियों का काम करने की सोची। बस्ता लिया, किताबें बिखेरीं और बैठ गई। अभी किताबें खोली ही थीं कि विनोद और मधु आ धमके।

"सुषमी ! डैडी कह रहे हैं दरिया का पानी बहुत चढ़ गया है। शिकारे और हाऊस-बोट्स ऊपर आ गए हुए हैं। चलो हम भी देखकर आएं।" मैंने किताबें बंद करते हुए पूछा—"और कौन-कौन जाएंगे ?"

"बस तुम, मैं और विनोद। छोटों को नहीं लेकर जाएंगे।" मधु फटाफट मेरी किताबें समेटते हुए बोली। बस, अब किसे पड़ी थी पढ़ने की।

हम लोग अपनी-अपनी सड़क पार करके मेन सड़क पर पहुंच गए। वर्षा भी अब थमती जा रही थी। बादल कहीं-कहीं से फट गए थे और उनमें से झांकती हुई सूर्य की किरणें गीली सड़क पर सात रंग बिखेर रही थीं। जहां-जहां पर सड़क नीची थी, वहां पर तो तालाब बना पड़ा था। जब कोई गाड़ी, टांगा या साइकिल आ जाती तो पानी में से गुजरते समय फव्वारे से उठने लगते। बड़ा मजा आता। कितनी ही फुहारें तो हम पर भी पड़ीं। हम भी जूतों के समेत ही छपाक्-छपाक् करते हुए दूर तक पानी में से निकलते गए।

दरिया का दृश्य तो सचमुच ही अजीब था। जिन शिकारों और हाऊसबोट्स को देखने भर के लिए बंड पर चढ़ना पड़ता था, वे सड़क पर खड़े-खड़े दीख रहे थे। नाविक लोग उनके बच्चे व स्त्रियां सभी किनारों पर आ-जा रहे थे। उनके मुर्गे व बत्तखें सड़क पर दौड़ रही थीं। पुरानी-सी लकड़ी के पानी पर तैर रहे टूटे-फूटे घर, उनके अन्दर धो-पोंछकर सजाए हुए समावार हुक्के व बर्तन व सुलगते हुए चूल्हे तक दिख रहे थे।

मधु उन्हें देख-देखकर हैरान हुई जा रही थी।

"लकड़ी के घरों के अन्दर चूल्हे जला रहे हैं। आग नहीं लगती होगी ?"

"नहीं आग कैसे लगेगी भला। इन्हें तो तरीका होता है।" विनोद ने उसके संशय को दूर किया।

फिर पूछती—

"ये लोग इतने लम्बे-लम्बे चोगे क्यों पहनते हैं ?"

"ये चोगे नहीं भई फिरन हैं। इनसे ठंड नहीं लगती।" मैंने बुजुर्गी के-से अंदाज से उसे समझाया।

और भी बहुत से लोग जमा थे यह सब देखने के लिए।

थोड़ा आगे चलने पर हमें कुछ नाविक स्त्रियां, भीगे हुए पुराने, मैले-कुचैले से बिस्तर व सूखी घास से बनी चटाइयां धूप में सुखाने के लिए फैलाती हुई नजर आईं।

"च् च् ! बेचारे कैसे सो पाते होंगे। सब कुछ तो भीग गया है इनका।" हमारे दिलों से गहरी आह निकल गई एक साथ। कुछ बूढ़ी औरतें हुक्का गुड़गुड़ा रही थीं, और उनकी गोदियों में चिल्लाते हुए बच्चे, सृष्टि के भयानक परिवर्तन का आभास प्रकट कर रहे थे। उन लोगों की दीन दशा देखने में हम इतने लीन हो गये कि शाम भी कब की ढल चुकी और हमें पता भी न चला। बहुत देर से हम घर पहुंचे।

और अब तीन-चार दिन से वर्षा भी थम चुकी थी। पानी भी उतरने लगा था। रफ़्ता-रफ्ता हमारी छुट्टियां भी समाप्त हो गयीं। दिल बहुत उदास हो गया। अब तो मधु से केवल शाम को ही मुलाकात हो पाया करेगी। दिन भर तो स्कूल में ही बंद रहना पड़ेगा !

शाम के समय खाना लेकर बैठी ही थी कि मधु आ गई।

"अब हमारी छुट्टियां भी खत्म हो रही हैं।" मधु मेरे पास बैठते हुए बोली। सुनकर गहरा धक्का लगा।

"अब तुम लोग चले जाओगे ?" मैंने कौर मुंह तक ले जाते हुए पूछा।

"हां ! कल पहलगाम जाना है। वहां से आकर फिर दो-एक दिन में वापिस चले जाएंगे।" कौर मुंह में तो गया, मगर गले से नीचे नहीं उतरा। मैंने प्लेट ऐसे ही छोड़ दी।

जिस दिन ये लोग पहलगाम से लौटे, बारिश काफी जोरों पर थी। रात भी काफी हो चुकी थी। हम खाना खाकर सोने की तैयारी कर रहे थे। वे लोग भी अवश्य ही उस समय थके-हारे व भूखे थे, सो नीचे जाकर मिलना ठीक नहीं समझा। सोचा अब कल स्कूल से आकर ही मिलेंगे और खूब गप्पें लड़ायेंगे।

उस दिन शनिवार था। आधी छुट्टी सारी होनी थी। स्कूल में जरा भी दिल नहीं लगा। ध्यान तो घर में था। घर पहुंचने के लिए मन बेचैन। छुट्टी की घंटी बजी तो पलक झपकते ही बस्ता बगल में दबाया और गेट की तरफ भागने की कोशिश की। धक्का-मुक्की करते-करते किसी तरह सड़क पर पहुंच ही गई। जल्दी से घर की राह ली। पर यह क्या ? सामने से वैसी

ही बड़ी काली कार आ रही थी। ऊपर बिस्तर बंधे थे। मेरे पांव ठिठक गए। कहीं यह मधु की गाड़ी तो नहीं। जब कार काफी पास आ गई तो मैंने नम्बर-प्लेट पढ़ी। वही थी। यह क्या ? ये तो जा रहे हैं। कार मेरे पास से गुजर गई, रुकी भी नहीं। पर शायद मधु ने मुझे देख लिया था। उसका हाथ खिड़की से बाहर निकलकर हिल रहा था। मैं वहीं सड़क के किनारे खड़ी, उदास डबडबाई आंखों से उस काली कार को देख रही थी जो हवा के शीतल झोंके की तरह, कुछ समय के लिए मधु को मेरे पास लाकर अब वापिस लिये जा रही थी।

दो दिन तक न कुछ खाया गया न पिया गया। बिस्तर छोड़ने को जी ही नहीं हो रहा था। फिर दिल को आशा बंधी कि शायद शाहजहांपुर से कोई चिट्ठी आ जाए ! मगर आज तक न कोई चिट्ठी, न पत्री।

इतना समय बीत चुका है न जाने वे लोग अब कहां-कहां होंगे। पर ऐटलस के उस शाहजहांपुर का नाम मेरे दिल की चट्टान पर अभी तक खुदा पड़ा है। □

कश्मीर विश्वविद्यालय के प्रांगण से

चिथड़े-शब्द और 'स्व'

□ मुहम्मद परवेज़ अमीन

वह शब्दों के चिथड़ों में बैठा रहा,
स्तब्ध—
अपने चारों ओर खड़े
अधढहे स्वरों के किलों में
अपने 'स्व' को सुरक्षित समझकर
अन्तिम फैसला नहीं कोई अभी उसका यह
वह, यही कहता चला आ रहा है
जड़ ज़िद की तूल पर, कि
अन्तिम जुम्बिशों के रहते,—
"मैं हथियार नहीं डालूंगा,
आत्मद्वन्द्व के घटाटोप के डर,
ज़हर खा लूंगा,
ठहरे हुए इन्तज़ार का,
सोच में गुम सैलाब का,
उम्मीद का दामन छूटने तक, मैं
सफर की बेकरारियों में,
नामुराद ठहरा रहूंगा
अंधेरे में
अपने अस्तित्व की मशअल जलाये,
नई पौ' के गीत लिखने के लिए,
और गुनगुनाऊंगा, बेखौफ,
गीत दर्द के,

अटपटे शब्दों के साये ओढ़कर
अधूरे स्वरों के अधढहे किलों में बैठकर
'स्व' को सुरक्षित मान,
कि मुझे स्वीकार है
आत्महन्ता दर्द, यह
और
यही गुनगुनाऊंगा—
गाऊंगा—अपनी-सी, बेशब्द बातों में
अनकहे बोलों में
दोहराऊंगा बेचैनियां
रुकते-बढ़ते कदमों में
बुझते-कौंधते-सुलगते हुए
इरादों के
नामुराद सायों में, मैं
नवगीतों की मशअलें जलाऊंगा
मैं—
दोहराऊंगा 'स्व'
जितनी देर हो सका
पानी की बुज़दिल लहरों का
साहिलों से
अपने अधबुझे मन में
इच्छाओं के
अधढहे दुर्गों में, निश्चिन्त
टूटी पताका मैं फहराऊंगा
बादलों में
बिजलियों की कौंध को
नया जीवन-शीर्षक देकर
गीले ईंधन-सा सुलगता हुआ
सावन की चिपचिपायी उमस से, मैं
बनाऊंगा धुन
अपने हर गीत की
जिस्मों से रूहों तक
तेज़ सर्द लहर दौड़ाने के लिए, मैं
सूखे सावन के,
गुमसुम गुज़र जाने के दर्द को
अपनी सदाओं के
अधखोये वृत्तों में, बुलाऊंगा
अपनी चुक गई शक्तियों से

मैं 'स्व' का, यह
अनोखा एक—
फीका-रीता—गीत गाऊंगा।"
वह, शब्दों के चिथड़ों में, बैठा रहा
स्तब्ध—
अपने चारों ओर खड़े
मीलों फैले, अधढहे स्वरों के किलों में
अपने 'स्व' को सुरक्षित समझ
अन्तिम फैसला नहीं यह उसका
अभी बाकी है, बहुत कुछ लाज़िम
ज़िद की तूल पर। •

कागज़ ते कनवैस की रचयिता अमृता प्रीतम

□ डा० धर्मपाल सिंहल

अमृता प्रीतम अपनी काव्य साधना में रत पूरी आधी सदी का विषपान करने वाली देवकन्या है जिसे मुक्त प्रेम की वाचाल और प्रगल्भा नायिका कहा जा सकता है। अमृता-काव्य अपने युग के प्रत्येक काव्यानुभव के साथ अपना स्वर मिलाकर निरन्तर आगे बढ़ता रहा है। कहते हैं कविता का कोई अपना रंग और आयु नहीं होती, वह सदा जवान रहती है, ऐसे ही अमृता प्रीतम दीर्घायु होकर भी सदैव युवा भावनाओं और उद्गारों को जन्म देती रही है। उसके काव्य की सर्वोच्च पहचान यही है कि वह मानव-मात्र की भावनाओं और उद्गारों का अमरगान करती रही है। अमृता के अशोकाचेती, कस्तूरी और नागमणी आदि काव्य-संग्रह प्रकाशित होने के समय ऐसा अनुभव किया गया कि अब भी वह अपने युग-बोध से कदम मिला-कर चलने में सक्षम है। उस समय पंजाबी में प्रयोगवादी, प्रयोगशील तथा नयी कविता आदि काव्य-प्रवृत्तियों के आवेग में युवा पीढ़ी के कवि-कलाकार अपना चरमोत्कर्ष देख रहे थे। मोहन सिंह, अमृता प्रीतम, प्रीतमसिंह सफीर तथा बाबा बलवंत प्रभृति प्रौढ़ कवि नये युग-बोध के साथ आगे बढ़ने में अपने आपको असमर्थ पा रहे थे। उन्हीं दिनों 'नागमणी' नाम से नयी कविता की शीर्षस्थ पत्रिका का सम्पादन करके अमृता ने शीघ्र ही यह बात प्रकट कर दी कि उसकी कविता सदा-जवान है, नये और पुराने के बीच की खाई को पाटने में पूर्णतः समर्थ है, तथा नवीन काव्यानुभूति किसी वर्ग-विशेष की बपौती नहीं है। १६७० में अमृता का नया काव्य-संग्रह 'कागज़ ते कनवैस' प्रकाशित हुआ तो इसने समूचे काव्य-जगत में एक हलचल पैदा कर दी। युवा कवि उसका मुंह ताकते रह गये और धीरे-धीरे उसके 'नागमणी' के खेमे-घेरे में एकत्रित होने लगे। यह काव्य-संग्रह भीड़-भाड़ तथा हंगामे भरे शहरी जीवन एवं आशाओं-कामनाओं व चिन्तन का गला घोंटने वाले ग़लत समाज-प्रबंध तथा राजनीति-तंत्र से लेकर दुविधाओं, शंकाओं और एकाकीपन से दर्शित, अपने स्वत्व को तलाश रहे आधुनिक मनुष्य तक को अपने-आप में समोये बैठा है। यहां हमारी सुधी कवयित्री जिन्दगी के लगभग हर पहलू पर पुनर्विचार कर रही प्रतीत होती है।

इश्क या प्रेम को जीवन का मूल जज़बा मानने वाली अमृता अपने प्रत्येक काव्य-संग्रह में इश्क का सांगोपांग चित्रण करती रही है। इश्क उसके काव्य का केन्द्र-बिन्दु रहा है तथा इस प्रमुख विषय को लेकर उसने अत्यन्त हृदयहारी और मनोरम कविताओं व गीतों की रचना की है इश्क कदे तारीख नूं दोहरांदा नहीं, इसदा हर सफा हुंदा है बेनजीर' तथा 'माण सुच्चे इश्क दा हुनर दा दाअवा नहीं' कहने वाली अमृता प्रीतम की कविता 'कागज ते कनवैस' तक पहुंचकर भी प्रेम के माधुर्य तथा सरसता से ओतप्रोत है। प्रेम मानो उसके व्यक्तित्व का, उसके शरीर का, ही एक अहम हिस्सा बन गया है। 'इश्क उसके लिए एक ऐसी सुगंधित वस्तु है कि जिसे आशिक की बेवफाई तक भी मिटा नहीं सकती। इश्क-मोहब्बत में सराबोर वह एक ओर अपने महबूब को 'कमीना, बेवफा, बदजात, जालम' जैसे कटु शब्द कहकर अपने मन का गुब्बार निकालती है और दूसरी ओर इश्क की धधकती हुई भट्टी में अपने आपको आहूत कर देने से भी पीछे नहीं रहती। जिन्दगी के मेले में खड़े होकर उसे सबसे प्रिय साथ अपने महबूब का ही दिखाई पड़ता है जिसे वह अपने वक्षस्थल से निःसृत शब्दों का 'टोस्ट' पेश करती है—

> ते हुण मैं इकल्ली नहीं, मैं अपने आप नाल खड़ी हां।
> शीशे दी सुराही बिच मैं नजरां दी शराब भरी है,
> ते असीं दोवें जाग पी रहे हां,
> ओह टोस्ट दे रिहा है उहनां लफ़जां दे
> जो सिरफ़ छाती दे विच उगदे हन
> एह अरथां दा जशन है।

मैं अब अकेली नहीं हूं, मैं अपने महबूब के साथ खड़ी हूं कि अपने आपके साथ खड़ी हूं। इश्क में शीशे की सुराही काम नहीं आती, मैंने अपनी आंखों को ही सुराही बना लिया है, हम दोनों जाग रहे और पी रहे हैं। वह अपने दिल की गहराइयों से उमड़ पड़े शब्दों का टोस्ट मुझे पेश कर रहा है, हम इश्क के नये अर्थों का जश्न मना रहे हैं?

अमृता का प्रेम का संकल्प एक मुक्त प्रेम का संकल्प है। जहां प्रेम है वहां बंधन ही बंधन हैं—समाज के बंधन, कानून के बंधन, अमीरी और गरीबी के बंधन।

> कहंदे ने इस मन दे जंगल
> रोज़ रात नूं चितरे पैंदे
> खड्डां दे विच पाणी पींदे
> लहू मास नू सुंघदे रहंदे

सुना है कि इस मन के जंगल में हर रोज़ रात के समय खूंखार बाघ झपटते हैं, वे औरतों की बेइज्जती करते हैं और अपनी प्यास बुझाते हैं। वे हर समय लहू और मांस की ताक में बैठे रहते हैं, उन्हें नित्य नये हाड़ और मांस चाहिए।

इस समाज में यही नहीं कि प्रेम तथा प्रेमी जैसे शब्दों के अर्थ लुप्त हो गये हैं, बल्कि हकीकत तो यह है कि यहां हर रिश्ता-नाता अपना वास्तविक अर्थ खो बैठा है। लोग भिन्न-भिन्न रिश्तों का सहारा लेकर यहां अपने प्रेम का उपहास उड़ाते हैं, मगर अमृता इन रिश्तों के शब्द-जाल से मुक्त हो चुकी है। और उसे पिता, भाई, मित्र तथा पति आदि सारे शब्द एक ही मंजिल की तरफ़ गामजन करते प्रतीत होते हैं। उसके प्रेम की पराकाष्ठा इन्हीं मानवी सम्बंधों के इन्द्रजाल से मुक्ति पाने में निहित है—

> बाप, वीर दोस्त ते खावंद

किसे लफ़ज़ दा कोई नहीं रिश्ता
उंज जदों मैं तेनू तकिआ
सारे अक्खर गूढ़े हो गए···

यहां पिता, भाई, मित्र और पति आदि किसी शाब्दिक रिश्ते का कोई अर्थ नहीं है, वैसे जब भी मैंने तुम्हें देखा है, रिश्तों के ये सभी अक्षर और भी गहरे हो गये हैं।

इस काव्य-संग्रह तक आते-आते उसके प्रेम के संकल्प में एक और भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया है। पहले वह आत्मिक एवं अफलातूनी प्यार की कवयित्री भी थी और अब शारीरिक संसर्ग, नैकट्य, और मुक्त मिलन उसका जीवन-दर्शन बन गया है। वह निष्कपट भाव से सेज-सिंगार की बात करती है—

मेरी सेज हाज़र है
पर जुत्ती ते कमीज़ वांगण
तूं आपणा बदन बी उतार देह
परां मूढे ते रख देह्
कोई खास गल्ल नहीं
एह आपणे आपणे देस दा रिवाज ए (आतम-मिलन)

मेरी शैया तुम्हारे आपके लिए हाजिर है, मगर जूती और कमीज की तरह तू अपना शरीर भी उतार दे। और परे मूढ़े पर रख दे। घबराओ नहीं, ऐसा करना कोई अजीब बात नहीं है, यह तो अपने-अपने देश का रिवाज होता है।

गलीआं दे चिक्कड़ लंघ के
जे अज्ज तूं आवें किते
मैं पैर तेरे धो दिआं
बुत्त तेरा सूरजी
कम्बल दी कन्नी चुक के
हड्डां दा ठार भन्न लवां। (सिआल)

इन गलियों के कीचड़ को लांघकर यदि कहीं तू आज आ जाए तो मैं तुम्हारे चरण धोकर पीऊंगी। मेरा शरीर सूरज की तरह गरम है, दिल करता है कि इस कम्बल की किनारी उठाकर इसकी ठण्डक शांत कर लूं।

डेढ़ घंटे दी मुलाकात
सोचदी हां आदिवासी औरत दीतरां मैं
इक चिलम बाल लवां
ते डेढ़ घण्टे दा तमाकू
इक अग्ग दे विच रख के पी लवां

(डेढ़ घण्टे दी मुलाकात)

मात्र डेढ़ घण्टा की अपनी मुलकात में मैं सोचती हूं कि आदिवासी स्त्री की तरह एक चिलम भर लूं और उसमें डेढ़ घण्टे का तम्बाकू रखकर एक आग में रखकर डीक जाऊं।

अमृता के काव्य में औरत जाति की विवशता, दुख-दरद, शोक और विषाद, निःसहायता तथा रुदनों की करुण कहानी खूब खुलकर कही गई है। अमृता-काव्य और विषाद एक ही अर्थ ध्वनित करते हुए प्रकट होते हैं। जहां उसके प्रारंभिक काव्य-संग्रहों में स्त्री पर सामाजिक

अन्यायों का पार्थिव पक्ष अधिक सामने आया है, वहां अब वह उसकी मनोवेदनाओं, अन्तः-विषादों और व्यथाओं की कहानी अधिक कहती है। 'इक शहर' में वह कहती है—

किसे मरद दी बुकल दे विच
किसे कुड़ी ने चीक मारके, पिण्डे उत्तों पच्चरलाही,
थाणे दे विच हासा मचिआ
काहवा-घर विच ही-ही होई।
सड़कां ते कुझ हाकर फिरदे
इक इक पैसे खबर बेचदे
रहदां पिण्डा फेर नोचदे।

किसी पुरुष की जकड़बंदी में जकड़ी औरत ने चीख मारी क्योंकि उसके शरीर का एक भाग नोचा जा चुका था, थाने में रपट दर्ज करने की जगह उसका मखौल उड़ा और काफी-हाऊस में भी वह चर्चा का विषय बनी। कुछ हाकर सड़कों पर घूम-घूमकर उस खबर को पैसे-पसे में बेच रहे हैं।

यही नहीं, अमृता-काव्य में एक ऐसी औरत उभरकर सामने आती है जो न झुकती है न लाज-शरम की ही मुहताज है और जिसका परिचय एक मरद तक सीमित नहीं, जिसके दोस्त हैं, दोस्तों की महफिल है, जो जशन मनाती है और स्वतंत्र तौर पर विचरण करती है।

'कागज़ ते कनवैस' में एक और विषय पर अमृता ने कलम चलाई है जिसे 'विश्वचेतना' (Global Consciousness) कहा जा सकता है। अमृता प्रीतम को 'स्त्री की आवाज़' 'इश्क की देवकन्या' तथा 'पंजाब की आवाज़' कहा जाता है, मगर अब उसकी कविता को कोई प्रादेशिक या क्षेत्रीय रंग नहीं दिया जा सकता, उसका काव्य देश और काल की सीमाओं से मुक्त हो गया है और वह भी संसार भर की औरतों के समूह में शामिल होकर उनके दुःखों-सुखों में भागीदार बन गई है। उसने हाल ही में (१९८० में) संसार प्रसिद्ध औरतों का कलाम 'मैं सस्सी मैं सोहणी' संग्रह में संग्रहीत किया है, मगर उसकी यह विश्व-चेतना 'कागज ते कनवैस (१९७०) में ही उसके लिए विशिष्ट मगर एकांत स्थान बना चुकी थी। अमृता देशों, मज़हबों और द्वीपों-महाद्वीपों की परिसीमाओं को पार करके समस्त संसार को अपने बाहुपाश में ले लेती है और अपना परिचय देती हुई लिखती है—

अज्ज मैं आपणे घर दा नम्बर मिटाइआ है
ते गली दे मत्थे ते लग्गा गली दा नाओं हटाइआ है,
ते हर सड़क दी दिशा दा नाओं पूंझ दित्ता है
पर जे तुसां मैंनूं जरूर लभणा है
तां हर देस दे, हर शहर दी
हर गली दा बूहा ठकोरो
एह इक सराप है, इक वर है
ते जित्थे वी सुतंतर रूह दी झलक पवे
समझणा ओह मेरा घर है।

आज मैंने अपने घर का नम्बर मिटा दिया है, गली का नाम भी हटा दिया है सड़क या दिशा का नाम भी खत्म कर दिया गया है। यदि आप मुझे अवश्य मिलना ही चाहते हैं तो प्रत्येक देश की, हर शहर, हर गली के द्वार पर दस्तक दो ऐसा करना एक शाप भी है और

वरदान भी। जहां कहीं भी स्वतंत्र आतमा की झलक आपको मिले, समझो वह मेरा ही घर है।

अमृता की एक और कविता 'फेमिली फोटोग्राफ' भी विशेष रूप से देखी जा सकती है। इसमें हमारी कवयित्री रंगों, मजहबों, कौमों और नसलों के भेदभाव मिटाकर सब देशों के परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बंधों की इच्छुक है। और यही उसका अपने पाठकों के नाम दिया हुआ अमर संदेश भी है—

> असीं वी सारे
> हिन्दू मुसलमान, गोरे ते काले
> अरबी ते यहूदी।
> चैक ते रूसी, अमरीकी ते वीअतनामी
> ते परां पिट्ठ मोड़ के बैठे होए चीनी भरा,
> इस तरां इक तसवीर तां खिचा सकदेहां,
> ते जदों फोटोग्राफर कवेगा,
> 'नाओ पलीज समाईल'
> असीं सारे इक्को वार मुसकरांवांगे।

हम सभी, हिन्दू-मुसलमान, काले-गोरे, अरबी, यहूदी, चैक व रूसी, अमरीकी व वियतनामी और हमारी तरफ से मुंह फेरकर दूर किनारे पर बैठे चीनी भाई, इस प्रकार से एक चित्र तो खिचवा सकते हैं, और जब फोटोग्राफर कहेगा कि अब तनिक मुसकराइए! हम सभी एक ही बार मुसकरा देंगे।

अमृता प्रीतम अपने समकालीन समाज एवं इसकी विकट समस्याओं के प्रति भी उदासीन नहीं है। वह हमारे रुग्ण समाज-प्रबंध की रोगी सोच, मिथ्या भाव, अन्याय, बेईमानी, तथा अवमूल्यन के प्रति भी पूर्णतः सजग है। 'इक शहर' में वह कहती है—

> हस्पताल दे बूहे अग्गे, हक, सच, ईमान ते कदरां
> किन्ने लफ्ज बीमार पए ने, भीड़ जिही इक लग गई ए।
> खबरे कोई लिखेगा नुसखा, खबरे नुसखा लग जावेगा,
> पर हाली तां इंज जापदा
> अऊध एन्हां दी पुग्ग गई है

समूचे तौर पर हम कह सकते हैं कि 'कागज़ ते कनवैस' काव्य-संग्रह में अमृता प्रीतम अपने नये प्रतिमान स्थापित करती हुई प्रतीत होती है जिसके फलस्वरूप वह आधुनिक युग की अधुना परिर्वतित परिस्थितियों और अपने लुप्त अस्तित्व को तलाश रहे आधुनिक लघु मानव की मनो-वेदना को अंकित कर सकने में सफल सिद्ध हुई है। □

मेडिकल कालेज, जम्मू के प्रांगण से

ज़िन्दगी—एक सवाल

☐ पूनम महाजन

ज़िन्दगी तेरे इन्तजार में
एक साल और बीत गया।
पिछले साल इन्हीं दिनों
तूने मुझे,
मुझे नहीं मेरी लाश को, जलाने से रोक दिया था
यह कहकर कि
मैं तुम्हें जिलाऊंगी,
और मेरी मृत आंखें
तेरे आश्वासन से चमक उठी थीं
और पल भर को हो गया था मैं उस बालक-सा
जिसने कई कड़वी मीठी दवायें निगल कर
खराब हुए गले को ठीक किया हो
और ले ली हो
डाक्टर अंकल से टाफी खाने की इजाजत।
पर मैं कहां जानता था
कि तेरा आश्वासन नेताई हो चुका है
और हर तीसरी लाश इस आश्वासन का शिकार होकर
तेरे इन्तजार में बरसों से गल सड़ रही है।
फिर भी मैंने
मैंने नहीं, मेरी लाश ने
अपनी मृत आंखें
खोले रखीं तेरे इन्तजार में

क्योंकि तेरा दिया गया विश्वास
विश्वास करने लायक था।
एक, दो, तीन, पांच, सात, दस
क्षण, दिन, सप्ताह, महीने बीतते रहे
और मैं—
मैं नहीं, मेरी लाश—
नापती रही आने वाली धड़कनों का फासला
नापे जा रही है आज भी—
शायद तू चली आये वर्षान्त के साथ
और शायद नापती ही रहेगी
कल शुरू होने वाले वर्ष के लिए। □

स्वप्न

तुमने कभी सपनों के टूटने की आवाज़ सुनी है?
नहीं न···।
तुम कहां सुन पाओगे उस झंकार को
तुमने तो कभी बुने ही नहीं स्वप्न।
क्योंकि तुम कहते हो कि ख्वाब
टूटने पर तोड़ जाते हैं अन्तस को
और जीने नहीं देते।
यह मैं भी स्वीकारता हूं
कि स्वप्नों का बनना और फिर टूट जाना
दूर अन्दर कहीं मुझे भी चटख जाता है
और मेरे दिल के चाइना ग्लास पर
बढ़ जाती है एक और दरार।
मैं रोज़ गिनता हूं इन दरारों को
जिनमें से हरेक के साथ जुड़ा हुआ है
मेरे अतीत का एक इतिहास
जो निरन्तर मुझे याद करवाता है—मित्र, स्वप्न कम बुनो।
दरारों का बढ़ना मेरे लिए आगे बढ़ना है जिन्दगी का
और इसीलिए शायद गिनता हूं रोज दरारों को
क्योंकि यह जानना चाहता हूं कि
कितने कदम आगे चल सका हूं।
मेरे लिए स्वप्न टूटना सुखकर प्रतीत होने लगा है
क्योंकि इस टूटन को मैंने तुम्हारी तरह
अन्तर के टूटने से नहीं
जीवन की प्रगति से जोड़ा है।

एक प्रार्थना

□ कंचन

वाह ! कितनी अच्छी
स्पष्ट और सीधी हर रेखा
देती है/एक अनिर्वच सकून
मन करता है—
देखते ही रह जाएं इसे :
दुलारती है आंख की पुतलियों को
रचते इसे—
हरे रंग में—
बोर दी गई है तूलिका।

खदेड़ता
पतझड़ की
फैली सेनाओं को
जहां भी जाता
झड़ते हैं फूल—
मुख से इसके
हंसी :
वन-झरने की कलकल
पीले रंग का—
कितना प्यारा प्रयोग।

यह
बदलता है
ग़म की सर्दी

खुशी की गर्माहट में
वाचाल है
लेकिन !उबाऊ हीन—
बातें इसकी
मार्के की कहता है
प्रभात की प्राची ने
जन्मा है निश्चय…!

पर,
यह…!
चौपट कर दी
सुन्दरता समस्त रचना की
क्यों टांक दी
स्वच्छ आकाश पर
दिन दहाड़े
यह रात !
ओ कलाकार !
अपने इस विशाल फलक से
हटा दो
सभी सूर्य-चन्द्रों को ग्रसता—
राहु यह तुरन्त ! □

ललित निबन्ध

मन का बोझ

☐ डा० रतनलाल शर्मा

आधुनिकता की प्रवृत्ति हम पर हावी होती जा रही है। औद्योगीकरण और तकनोलॉजी का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। शहरीकरण का विस्तार होता जा रहा है तथा जनसंख्या का घनत्व बढ़ता जा रहा है। इन सबकी अलग-अलग समस्याएं हैं जो दिन-प्रतिदिन विकट होती जा रही हैं। दूसरों की देखा-देखी प्रदर्शन की भावना बढ़ रही है। जीवन स्तर ऊंचा उठ रहा है। महंगाई आसमान छू रही है। दैनिक उपयोग की वस्तुओं का अभाव हो रहा है और जीवन जटिल होता जा रहा है।

इस सबका परिणाम यह हुआ है कि हमारे मन पर बोझ बढ़ता जा रहा है। हमारी जान बड़ी मुश्किल में है। क्योंकि हमारे छटंकी-से मन पर मन भर बोझ लद गया है। इससे हमारा नन्हा-सा मन भारी बोझ से दब गया है और यह दबाव इतना बढ़ता जा रहा है कि अब असहनीय हो गया है।

हम चाहते हैं कि हमारा मन सावन की तरह हरा-भरा रहे। वसंत की भांति पुष्प गंध से भर जाए। पर अजीब हालत है कि यह निरन्तर सूखा पड़ने से सूख गया है और पतझड़ की तरह फूल पत्तियों से रिक्त हो गया है। हमारी आकांक्षा है कि हमारा मन-मयूर नृत्य करे। मन कोकिल कुहू-कुहू का राग छेड़ दे। किन्तु आलम यह है कि हमारे मन का नर्तक-गायक मर गया है। इस दुर्घटना की खबर अखबार में छपी जिसका प्रभाव यह हुआ कि प्रधान मन्त्री, केन्द्रीय सिंचाई मन्त्री और केन्द्रीय खाद्य मन्त्री ने हेलीकाप्टर में सूखाग्रस्त क्षेत्र का दौरा किया। प्रधान मन्त्री ने सूखे भूखे लोगों के बीच भाषण दिया। सिंचाई मन्त्री ने आंसू बरसाए और खाद्य मन्त्री ने बिस्कुट गिराए। उसके बाद वे लोग अपने-अपने व्यस्त कार्यक्रमों में लीन हो गए।

इस घटना को कुछ दिन बीत गए। एक दिन मैं अपने कमरे में बैठा हुआ था। नज़र बाहर सड़क पर जमी हुई थी। यकायक एक दृश्य उभरा। उद्धव गोपियों को समझा-बुझा रहे हैं और गोपियां अपना दर्द बयान कर रही हैं, चोट भी कर रही हैं :

"ऊधो, मन नाहीं दस बीस।

एक हुतो-सो गयो स्याम संग को आराधँ ईस'

काश, हर आदमी के पास दस-बीस मन होते तो कैसा रहता। एक ही मन ने आदमी को नाच नचा रखा है। अगर दस-बीस होते तो पता नहीं वे क्या कर डालते। कुछ भी हो, प्रकृति का नियम थोड़े ही बदलता है। अगर अधिक मन होते तो वे सभी समान रूप से सक्रिय नहीं होते। संतुलन उस रूप में भी बना रहता।

वैसे इस समय मन ने क्या कसर रख छोड़ी है। वह इतना चंचल है कि उसकी बराबरी कोई कर ही नहीं सकता, ध्वनि की गति से भी अधिक तेज उड़ने वाला विमान भी नहीं। वह एक ही क्षण में दृश्य-अदृश्य क्षेत्रों की यात्रा करके लौट आता है। उसके लिए कुछ भी दुर्गम्य नहीं है। वह एक ही समय में दो विरोधी कार्य कर सकता है—प्रणय-लीला कर सकता है और शोक भी मना सकता है।

पूर्व घटना के कुछ दिन बाद मेरे सामने एक और दृश्य उभरा। मैं चाय की दुकान में दाखिल होता हूं जहां कुछ युवक पहले से ही बैठे हुए हैं। उनके चेहरे बुझे हुए हैं। उनकी बातों का सूत्र टूट गया है, नया सूत्र मिल ही नहीं रहा है। वे शायद अपने भीतर कुछ टटोल रहे हैं। मैं कहता हूं अरे बच्चो, तुम दुखी क्यों हो। अपने मन को किसी काम-धाम में लगाओ।

उनमें से एक बोला—हे उपदेशक, हमारे पास न मन है और न कोई काम-धाम ही। फिर आप ही बताएं, हम किसे किस में लगाएं।

दूसरा बोला—आप हवा में बात करते हैं। हमें रोजगार मिला ही नहीं और हमारा मन रोजगार मंत्री के साथ चला गया। अब बताइए, दूसरा मन कहां से लाएं।

मैंने देखा, उनके चेहरे तमतमा गए और मुट्ठियां कस गईं। मैं वहां से दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ। इसके बाद मैं बहुत से स्थानों पर गया जहां तरह-तरह के लोग मिले। उनका भी वही हाल था। मैं चुपचाप सब कुछ देखता रहा और हर बार खिसक आया। बस, यहां यही सब चल रहा है। या तो हम समस्या को टालते हैं या उससे पलायन कर जाते हैं। हम उसे हल करने की कोशिश ही नहीं करते। सभी स्तरों पर यही हो रहा है। यह कहना बड़ा मुश्किल है कि दोषी कौन है। अरे साहब, किस-किस को रोइए, किस-किस को गाइए। प्रयत्नशील होने की बजाए यह आदर्श-सूत्र अपना लिया जाता है—आराम बड़ी चीज है; मुंह ढक कर सोइए।

मुझे लगा, सब लोग नाराज हैं, दुखी हैं, सब के मन पर बोझ है, भारी-सा पत्थर रखा हुआ है। मैंने सोचा, चलो इनके मन पर रखे पत्थर को हटा दूं। ये भी क्या याद रखेंगे कि कभी किसी से पाला पड़ा था। मैं एक आदमी के पास पहुंचा और उससे कहा भाई जान, क्या आपके मन पर पत्थर रखा हुआ है?

वह बोला—हां, आपको कैसे मालूम? और आप क्या करेंगे?

मैंने अपना बड़प्पन दिखाते हुए कहा—हमें सब मालूम है। लाइए मैं हटा देता हूं।

वह बोला—आपके मन पर भी पत्थर रखा हुआ है। यह मुझे मालूम है। पहले उसे हटा लीजिए। तब दूसरों का पत्थर हटाने की बात सोचिए।

मैं खिसियाकर रह गया और अपना-सा मुंह लेकर अपने पास ही लौट गया। मैंने अपने मन पर रखे हुए पत्थर को हटाने की कोशिश की। वह एक इंच भी नहीं हिल सका। मैं हिम्मत हारकर बैठ गया और वह पत्थर आज भी ज्यों का त्यों रखा हुआ है। कोई इसे न देख पाए, यह अलग बात है। कहते हैं, सीता स्वयंवर के समय शिव धनुष को कोई उठा भी न पाया था, पर राम ने तोड़ दिया था। आज वह राम कहां हैं जो हर व्यक्ति के मन पर रखे हुए पत्थर

को हटा दें।

इस बात को काफी दिन गुज़र गए। एक बार फिर मेरे मन में कीड़ा कुलबुलाया कि कम से कम इतना ही जान लें कि मन का बोझ किन कारणों से उपजता है और इसे कैसे दूर किया जा सकता है। बस, फिर क्या था। खोजबीन शुरू हुई। मैं दूसरों के पास गया। उन्होंने अपने ऊपर हाथ भी नहीं रखने दिया। अन्त में अपने ही भीतर उतर गया। जी नहीं, डूब गया और मुझे पता लगा कि इस डूबने में भी रस है जिसका आस्वाद सभी लोग कर रहे हैं। तब मुझे सहसा इल्हाम हो गया कि मन का बोझ दो रूपों में हमारे सामने आता है—मानसिक दबाव और मानसिक तनाव।

प्रायः हम देखते हैं कि व्यावहारिक जीवन में हर व्यक्ति को बहुत से मानसिक दबाव झेलने पड़ते हैं। जो लोग उन्हें सामान्य रूप से लेते हैं, उनके लिए दबाव अवश्य ही कार्य की गति, स्फूर्ति और कुशलता को बढ़ाते हैं और जो लोग उन्हें बला मानकर चलते हैं, उनके लिए वे दबाव ही तनाव बन जाते हैं।

कुछ लोग सामान्य स्थितियों में काम करना पसन्द करते हैं और वे सामान्य ढंग से काम करते रहते हैं जबकि कुछ लोग दबावों में काम करना बेहतर समझते हैं। उनकी मानसिकता ऐसी बन जाती है कि दबावों के बिना काम कर ही नहीं सकते। दबाव उनके लिए प्रेरणा-स्रोत ही नहीं, पथ के साथी भी हैं। वे उनके लिए अवरोधक बनकर नहीं, सहयोगी के रूप में आते हैं।

वैसे भी, एक कर्मशील एवं प्रगतिकामी व्यक्ति के लिए यह संभव ही नहीं है कि उस पर कोई दबाव ही न हो। वे दबाव किसी व्यक्ति, स्थिति या व्यवस्था के हो सकते हैं या स्वेच्छा से वरण किए जाते हैं। बस, अन्तर इतना है कि कुछ लोग दबावों से दब जाते हैं, क्योंकि दबाव उन पर हावी हो जाते हैं जबकि दूसरे लोग दबावों को चुनौती के रूप में लेते हैं। वे इस चुनौती के सामने तन कर खड़े हो जाते हैं और हार नहीं मानते हैं, बल्कि सफलता उनके चरण चूमती है।

ऐसे लोग उन्हें पसन्द नहीं करते जो आराम से पड़े रहते हैं, धीरे से उठते हैं, मंद चाल से चलते हैं और सुस्ती से काम करते हैं। वे शान्ति की कामना करते हैं। उनकी धारणा होती है कि हमें वही मिलेगा जो हमारे भाग्य में है। इसलिए कुछ भी अतिरिक्त प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। वे लोग आत्मतुष्ट होते हैं। वे कच्छप के अवतार हैं जिन्हें ऐसे लोग पसन्द नहीं करते जो हवाई घोड़े पर सवार होकर विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय रहते हैं।

मैं अपनी बात कहूं। मैं हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठा रह सकता। रात को सोने के समय ही बिस्तर पर जाता हूं और सुबह को जगने के बाद पड़ा नहीं रह सकता, क्योंकि बिस्तर पर करवटें बदलते रहना मुझे पसन्द नहीं है। अगर एक-दो दिन या अधिक समय तक मुझे कोई काम न करने दिया जाए तो मेरे लिए इससे बड़ा दंड और कुछ नहीं हो सकता। मुझे लगता है, इस अकर्मण्यता की स्थिति में मेरे भीतर मानसिक तनाव भर सकते हैं। इस मानसिकता वाले और भी लोग हैं, लेकिन उनकी संख्या कम है।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि हमारे देश में करोड़ों लोग अपना अधिकांश समय सोने में बिताते हैं। इनमें से अनेक लोग रात में ही नहीं, दिन में भी सोते हैं जिनमें पहला नम्बर अध्यापकों का है और दूसरा नम्बर मध्य वर्ग की गृहणियों का है। पता नहीं, उनके भीतर इतनी नींद कहां से भर गई है कि वह पूरी ही नहीं हो पाती। मुझे लगता है, मेरा देश मुद्दत से ऐसे ही जमकर सो रहा है, जगने का नाम ही नहीं लेता। छोटे-छोटे देश कहां से कहां पहुंच गए हैं, पर मेरा विशाल देश आज भी अपनी कुंभकर्णी नींद में अचेत पड़ा हुआ है। लोग घरों में, रेल-

गाड़ियों में, बसों में और दफ्तरों में भी सोते रहते हैं। न जाने उनकी नींद कब टूटेगी।

मेरी समझ में नहीं आता कि लोग इतना अधिक कैसे सो लेते हैं। मुझे इस पर आश्चर्य होता है कि इतना अधिक सो लेने के बाद भी वे मानसिक तनावों से ग्रस्त कैसे हो जाते हैं।

अतः हम अपने आपको और अधिक कार्यों में अधिकाधिक व्यस्त कर दें, यहां तक कि हमारे सामने अन्य कोई विषय आए ही नहीं। हम अपने काम में इतने तन्मय हो जाएं कि अन्य कुछ भी सोचने-समझने का अवकाश ही न रहे। व्यर्थ की बातें हमें सताएं नहीं और मानसिक तनाव के मूल कारण हमारे सामने से ओझल हो जाएं। अत्यधिक काम करने के बाद मन और शरीर इतना थक जाए कि जब बिस्तर पर सोने के लिए जाएं तो तुरन्त नींद आ जाए।

कम या अधिक काम करने से ही तनाव-ग्रस्तता नहीं होती, बल्कि अतिरिक्त कार्य करने की विवशता भी इसके लिए आधार बनती है। यहां समस्या यह है कि व्यक्ति को अपना काम तो करना ही है, दूसरे का काम भी करना पड़ जाता है। मान लीजिए, दूसरा आदमी मटरगश्ती करता है या बॉस की मक्खनबाजी कर के काम से बच जाता है। इस स्थिति में अतिरिक्त काम करने वाला सोचता है कि एक आदमी कोई काम न कर के या बहुत कम काम करके भी मेरे बराबर का वेतन पाता है तो फिर मैं अतिरिक्त काम क्यों करूं। वह मानता है कि यह अनुचित कार्य है। अन्याय का विरोध न करके उसे चुपचाप सह लेने वाला भी उस अन्याय में शामिल होता है और विरोध करके उसका परिणाम भुगतने वाला व्यक्ति तनावों से ग्रस्त हो जाता है।

जब ये बातें बार-बार उसके मन में टकराती हैं तो उस पर काम का दबाव और अधिक बढ़ जाता है जिससे उसके मन पर बोझ पड़ जाता है और मानसिक तनाव छा जाता है। सचाई यह है कि व्यक्ति अधिक काम करने से नहीं घबराता, बल्कि परेशानी यह है कि उसे अतिरिक्त काम का पुरस्कार नहीं मिलता। यही नहीं, उसे मानसिक तनाव के रूप में दंड मिलता है।

व्यक्ति अपनी इच्छा से कितना ही काम कर सकता है, पर विवशता के कारण थोड़ा-सा भी अतिरिक्त काम भारी पड़ता है। तो सवाल काम की अधिकता का नहीं है, बल्कि व्यक्ति की मानसिकता का है जो बहुत-सी बातों पर निर्भर है।

क्या ऐसा संभव है कि हम पर कोई दबाव ही न पड़े और हमारा काम बन जाए यानी हमें अमुक काम से आनन्द या संतुष्टि मिल जाए? इसका सीधा उत्तर है कि ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसके लिए यह देखना होगा कि किसी भी काम के दबाव से दो विरोधी अनुभव हो सकते हैं—आनन्द या विवाद संतुष्टि या असंतुष्टि आदि। अतः अनुभूति और अनुभव के लिए कुछ न कुछ कष्ट तो करना ही पड़ेगा और उसे झेलना भी होगा।

मैं अपने आप से एक प्रश्न करता हूं। मैं जो कुछ भी काम करता हूं। क्या वह मेरी विवशता है, कर्तव्य का निर्वाह है या आनन्द विभोर मानसिकता है? अगर यह काम मेरी रुचि और स्वभाव के अनुकूल है तो उसमें बाहरी बाध्यता या विवशता का प्रश्न ही नहीं उठता। अवश्य ही, कर्तव्य का निर्वाह अच्छी बात है, पर आनन्द विभोर मानसिकता उससे भी अधिक श्रेयस्कर एवं ग्राह्य हैं।

सभी जानते हैं कि हम केवल वर्तमान में नहीं जीते अतीत के खट्टे-मीठे अनुभव भी हमारे जीवन के संचरण में सहायक बनते हैं यानी कटु अनुभवों वाली स्मृतियां हमें कचोटती हैं जिनसे हमारा वर्तमान प्रभावित होता है। इससे बचाव के लिए हमारे पास एक शक्ति होती है जिसे विस्मृति कहते हैं जो अतीत की समस्त कड़वाहट से मुक्ति दिला देती है। निस्संदेह, हमारे हित में यह आवश्यक है कि हम दुखद स्मृतियों को भूल जाएं और सुखद स्मृतियों को अपने साथ

बनाए रखें जो समय-समय पर हमारे लिए प्रेरक तत्त्व का काम करेंगी।

जब हम दूसरों के विरुद्ध बहुत-सी शिकायतें पाल लेते हैं तो हमारे लिए जीवन बहुत मुश्किल हो जाता है। हमें हर आदमी अपना दुश्मन नजर आता है जबकि ऐसा नहीं होता। हम दूसरों से कट जाते हैं और अकेले पड़ जाते हैं जिससे हमारे लिए और अधिक मुश्किलें खड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार हमारे मन पर और अधिक बोझ पड़ जाता है।

हमारे मानसिक दबाव में सहयोगी की भूमिका निभाने वाले अन्य तीन तत्त्व भी हैं—क्रोध, चिंता और आत्म-संकोच। ये तीनों ऐसे तत्त्व हैं जिनसे हमारे मन पर भारी दबाव पड़ता है और हम मानसिक तनावों से घिर जाते हैं। किसी अनुचित कार्य पर क्रोध आना स्वाभाविक है और किसी भी प्रकार की असुरक्षा की भावना से चिंता अभिव्यक्त होगी ही। फिर भी, उन्हें संतुलित रखा जा सकता है और हम अनावश्यक एवं अनपेक्षित दबावों से बच सकेंगे।

जब कोई भी व्यक्ति समाज से कट जाता है तो वह अपने आप में सिकुड़ जाता है जिसे आत्म-संकोच कहा जाता है। यह मानसिकता कम घातक नहीं है और इससे हमारे मन पर दबाव ही नहीं, तनाव भी बढ़ते हैं। शायद रहीम भी किसी समय ऐसी ही मानसिक स्थिति से गुज़र रहे थे। तभी तो उन्होंने लिखा था—

रहिमन या मन की बिथा, मन ही राखौ गोय
सुनि इठलैहैं लोग सब, बांटि न लैहैं कोय।

अगर मन की व्यथा को अभिव्यक्ति नहीं मिलेगी तो मन में गांठ पड़ जाएगी और कुंठा-ग्रस्त मन अवश्य ही तनावों से भर जाएगा।

कहते हैं, मन बड़ा जटिल है जिसे समझना आसान नहीं है। इसीलिए लोग बहुत कुछ ऐसा कहते रहे हैं जिसके बीच कहीं तालमेल नहीं है। मन को मत बांधो, मन को खुला मत छोड़ दो, मन बहुत शक्तिशाली है, मन कमजोर है, मन के गहन गह्वरों में मत भटको, मन के आंगन में आओ, मन की बगिया खिलाओ और पता नहीं क्या-क्या ?

इसी बीच किसी ने प्रश्न किया—आप तो मन के बोझ की बात कर रहे थे, उसका क्या हुआ ?

मैं कुछ बहकने लगा था जिसके आगे अब पूर्ण विराम लग गया। मैंने उत्तर दिया—"मैं अपना मन खोलकर रख चुका हूं और मेरा बोझ हलका हो गया है। आप देखिए, कहीं आपका बोझ बढ़ तो नहीं गया।" □

पंजाबी कविता

कब चाहा था

□ जगतार ढ़ाह

मैं तो घर की तलाश में निकला था
कब चाहा था
चामचड़िक-सा अंधेरों में, कोनों में
उलटा लटकता रहूं
दीवारों पर खिलते फूलों को देखकर खुश होते
ज़िन्दगी से भटका रहूं ।

कब चाहा था
कि अपनी छाती में घोंसला डालकर बैठी औरत
एक गुणा अठारह करने में
इतनी उलझ जाए
कि उसे सुध ही न रहे
छाती में घोंसले के 'बोट' मरने की सुध
और घोंसला तिनका-तिनका हो जाए

कब चाहा था भूल जाना
ज्येष्ठ-आषाढ़ की कड़कती धूप में
गेहूं के कटावों में नंगे पैरों
अन्तड़ियों के लिए धैर्य चुगने के
मां को मिले शाप को
उमस के गुबार में
शरीर पर यातना झेलते पिता को

तंदूर-से तपते रास्तों पर
घास के तिनके खोज-खोज
उन पर नंगे पांवों बचा-बचाकर चलते
अकल खोजने जाते अपने आपको
लेकिन अब तो चिन्ता है हमें
कि हमारे घरों से बाहर
उड़ती रेत का कोई कण
हमारे घरों की भीतरी दीवारों पर लगे काग़ज़ पर छपे
खिलते फूलों के मुंह रेतीले न कर जाए
बिजलियों भरा कोई बादल
शीशा तोड़कर भीतर न निकल आए
कि कहीं भूख से मरे
रेलवे प्लेटफार्म पर पड़ी भिखारी की लाश की याद
हमारे सपनों में उदासी भर जाए

हम सोने चांदी की परत
अपने-अपने शरीरों पर चमकाकर
गुणा-भाग के चक्कर में खुद को उलझाकर
मन की पटारी में सांप डाले
चारदीवारी से बाहर कदम रखकर
जंगल में गूंजते तूफान में
नहीं कोशिश करते आशा करने की
कि जहां समाप्त होगी
गुमशुदा घर की तलाश। □

अनुवादक : फूलचन्द मानव

सम्बन्धों के किनारे

□ सिम्मी हर्षिता

मकान अभी तक कोरा था और जैसे मेरा इन्तजार ही कर रहा था। न जाने किन लोगों-मजदूरों ने मिलकर यह मकान मेरे लिए खड़ा किया था। जब हम पहुंचे थे उसी समय मकान मालिक मजदूरों को मजदूरी देकर विदा कर रहा था। खिड़कियों पर शीशे नहीं लगे हुए थे। प्रापर्टी डीलर ने बताया—"यहां बेचने के लिए मकान बनाने वाले खिड़कियों पर शीशे आदि नहीं लगवाते···।" दरवाजों की लकड़ी अच्छी नहीं थी—पर बाकी चीज साफ़-सुथरी लगी। मेरी जरूरत के अनुसार लगभग सारी चीजें पूरी थीं। कुछ काम थे जो मुझे खुद करवाने थे। खिड़कियों पर शीशे लगवाने थे। बिजली नहीं थी—पर बिजली की तारें और सामान सारा लगा हुआ था। बिजली के लिए अर्जी देनी थी। बिजली के मीटर के लिए रुपये जमा करवाने थे। बिजली का खंभा तो गली के दरवाजे के पास था—पर कनेक्शन बहुत नयी आबादी हो जाने के कारण नम्बर अनुसार देते थे। बिजली न होने के कारण कठिनाई अनुभव होती थी—पर पानी के लिए हैण्डपम्प लगा हुआ था। नल के पानी के लिए पहले घर का बिजली से रिश्ता जोड़ना आवश्यक था। साथ ही नल का पानी अभी तक उस क्षेत्र की ओर आया ही नहीं था। सोचा—जब कमेटी का पानी इस आबादी की तरफ आएगा तब अन्दर नल लगवा लूंगी। इस तरह अभी इस झोंपड़ी में कई घाटे थे जो पूरे करवाने थे। ये काम मर्दों के होते हैं—पर यहां तो कोई मर्द था नहीं। जिन्होंने मकान बेचा था—कुछ उनको ही कह-कहाकर और कुछ आप करवाती रही।

उस समय इस कुटिया में न पंखा, न चारपाई, न बत्ती, न दीया! केवल वाह-वाह की याद!

मुझे रात को घर या होस्टल से बाहर रहने की आदत नहीं है। मेरा दिल घबराने लगता है आज भी। शुरू-शुरू के उन दिनों यहां रहते हुए लगता—न मैं घर में हूं—न होस्टल में। बाहर कहीं वीराने में पड़ी हुई हूं!

जीवन के कितने ही साल उस एक रात की पुनरावृत्ति की दहशत में गुजर गये थे। फिर कितने ही साल उसे भूलने की कोशिश में निकल गये थे—फिर कितने ही साल सहज होने की कोशिश में लांघ गये थे। होस्टल की सुरक्षित दीवारों से निकलकर जब अंधेरे में डूबे इस मकान

में पहली संध्या घिरने लगी थी तो लगा था वह मुर्दा रात फिर जिन्दा हो रही है—उसकी सांस सुनाई देने लगी है ! मन घबराने लगा था। भूले हुए भयभीत एहसास फिर याद आने लगे थे। धीरे-धीरे सारा जीवन आंखों के आगे से किसी फिल्म की रील की तरह गुजरता चला गया था। विश्वास ही न हो रहा था कि कल की वह ही आज की मैं हूं ! तर्क ने मन को विश्वास और दिलासा दिलाया कि वह बुराई तो अब तक मर-मरा गई होगी ! रात नींद का सुख-आराम तो देती है—पर यदि वह सोने न दे तो उस जैसी भयावह चीज भी और कोई नहीं होती !

जिस दिन इस मकान में आई—आस-पास की औरतें आ-आकर तरस खाने लगीं—"क्या आप अकेली ही रहती हैं ?"

मेरे "हां" कहने पर वे "च-च" करने लगीं।

"अरे ! दया-तरस उस पर करो जो साथ करने पर अलग हुआ हो। मैं तो शुरू से ही अकेली हूं !" सीधी-सरल-अशिक्षित और पति-बच्चों की सुरक्षा की दीवारों में घिरी-जीती—गृहस्थी में पैर से सिर तक डूबी-धंसी औरतें मेरा मुख देखने लगीं।

यहां आकर चौकस और शक भरी नजर मैंने चारों ओर डाली यह जानने के लिए कि कैसे और किस तरह के लोग यहां रहते हैं ? यदि सज्जनों के बीच बदमाश आ जाए तो सज्जन उसे टिकने नहीं देते—और बदमाशों के बीच यदि सज्जन आ जाए तो बदमाश उसे ठहरने नहीं देते। सज्जनों को अपनी सज्जनता की और दुर्जनों को अपनी दुर्जनता की सुरक्षा की चिन्ता रहती है। यह खोज मेरी कई महीनों तक जारी रही। उनके बीच उनकी तरह—अपनी तथा-कथित होस्टल सुपरिटेण्डेण्ट वाली अफसरियत और उस्ताद की उस्तादी झाड़कर बातचीत में शामिल होती रही—ताकि उन्हें उनकी तरह जान-समझ सकूं। कोई चौकीदार तो मेरे पास था नहीं जिसकी ओट में मैं आंखें बन्द कर सुरक्षित भाव से बैठी ऊंघती रहती। अपनी सुरक्षा के लिए मुझे सारी ज़िन्दगी सावधान और चौकस रहना पड़ा है जिसने मुझे बेहद शक्की और सवालिया बना दिया है।

पड़ोसी औरतें आतीं और कहतीं—'घर सजा लिया है जी ?"

"बीवी बहन ! ये न घर है—और न इसे सजाने की जरूरत है। हां, जीवन की मूल जरूरतें पूरी करनी पड़ेंगी जो धीरे-धीरे पूरी हो जाएंगी।"

पेन्शन—जी० पी० फण्ड तथा ग्रैच्युटी का लगभग दस-ग्यारह महीनों तक पता न चला। पता नहीं क्यों इतनी देर हो रही थी ? शायद देरी का ही नियम होगा। शायद ऐसा ही होता आया होगा सबके साथ। तब अपने पास बैंक में पैसा न होता तो कैसे वह साल गुज़रता और रहने-जीने का ठौर-ठिकाना बनता ? ग्रैच्युटी तो पेन्शन के फैसले पर ही मिलती है—पर जी० पी० फण्ड तो अपना है—जल्दी मिलना चाहिए ! स्कूल में प्रिंसिपल न होने के कारण दफ्तर वाले कोई कागज़ पूरा ही न करते—न बाहर निकाल कर आगे चलाते। डेढ़ साल हो गया था प्रिंसिपल को नौकरी से अवकाश पाए। अभी तक कोई नयी प्रिंसिपल सरकार ने भेजी नहीं थी। स्टाफ़ में से ही कभी कोई—कभी कोई वरिष्ठ टीचर प्रिंसिपल का काम संभाल रही थी जो दफ्तर के काम से अनजान थी। सरकार के घर से पैसा चाहे वह अपना ही हो—निकालना बड़ा कठिन है। जनरल प्रावीडेण्ट फण्ड का दफ्तर शिमला में था और वहीं पेन्शन-ब्रांच में पेन्शन तय होनी थी। समय ऐसा खराब आ गया है कि जब तक जान-पहचान न हो या सिफारिश

न हो कोई भी काम नहीं होता। आजकल लोग पहुंच-पहचान और सिफ़ारिश के चश्मे के बिना
एक-दूसरे को देख-समझ ही नहीं पाते। मेरा तो एक ही आसरा था --उसी की सिफारिश थी।
सोच लिया -- वह जब किसी को प्रेरित करेगा तो हो जाएगा काम। भटकना-फिरना मुझे आता
नहीं कि चंडीगढ़ और शिमला के दफ्तरों में टक्कर मारूं और लोगों की मिन्नतें करूं! उसीके
भरोसे बैठी रही कि अपने आप करेगा या करवाएगा। यह भी अर्ज़ करती रही कि मुझ जैसे
कलयुगी जीव के धैर्य तथा संतोष की परीक्षा ज्यादा न ले तो ही अच्छा है क्योंकि उस परीक्षा
में मेरे फेल होने की ज्यादा संभावना है।

लगभग साल भर बाद सब कुछ तय हुआ और ११२ रुपये २० पैसे पेन्शन मिली!

जी० पी० फण्ड—ग्रैच्युटी तथा पेन्शन की समस्या के हल होने में तो साल लगना
था—पर उससे पहले और ढेर-सी समस्याएं थीं मेरे सामने जिन्हें उसी समय हल करना था।

नौकरी से अवकाश के सात-आठ महीने पहले पैर फिसल जाने से दायीं बाज़ू कलाई पर
से टूट गई थी। पहले गलत इलाज होने के कारण तीन बार ऑपरेशन हुआ और उसके बाद
फिर छः हफ्ते का प्लस्तर लगा था। जब बाज़ू खुली तो देखा बांह टेढ़ी जुड़ी है! ज्यादा हिल-
जुल भी नहीं सकती थी। सो एक तो मैं पहले ही निकम्मी थी—अब और भी कुछ करने में
कठिनाई होती। कुछ लिखने में भी दर्द होने लगता। कपड़े आदि धोना या और कोई काम भी
दायें हाथ से न हो सकता। यह तो थी उन दिनों शारीरिक कठिनाई। एक कठिनाई मन की भी
घेरे रहती।

दूसरों से सेवा करवा कर मेरा अहं संतुष्ट होता है! अच्छा लगता है! खुशी होती
है! सारी ज़िन्दगी मैंने कभी कोई शारीरिक काम नहीं किया था। घर-बाहर का जो काम पहले
कभी नहीं किया था—वह अब सारा एक साथ मेरे सिर पर आ पड़ा रातों-रात! सारे दिन से
जुड़ा-बंधा एक-एक काम एक भारी मुसीबत का पहाड़ लग रहा था। घर की सफ़ाई का काम—
झाड़ू-पोंछा लगाना, कपड़े धोना। रसोई का काम—राशन-सब्जी लाना, आटा गूंथना, सब्जी
काटना, स्टोव जलाना, सब्जी बनाना, फुलके बनाना, खाकर बरतन मांजना, और भी बहुत-
सी बाहरी कानूनी भाग-दौड़ करना।

नहीं! काम तो कठिन नहीं थे! अब तो करती ही हूं। पता ही नहीं चलता। सच
पूछो तो—'मैं क्या हूं?'—यह अहं और अहंकार था मन में। उन्हें भी ठेस लग रही थी हर
पल। छात्रावास पर—छात्राओं पर—सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति पर इतने वर्षों के शासन
के स्वाद की गंध बसी हुई थी अंदर। दिमाग में, 'मिस जी'—'मिस साहिब'—बसा हुआ था। वही
हाल था जो शाहजहां का हुआ था जब उसे औरंगजेब ने बन्दी बना लिया था। तब शाहजहां ने
उसे कहा था—'कुछ लड़के भेज दो जिन्हें मैं पढ़ा दिया करूं। इससे मेरा वक्त कट जाएगा।'
औरंगजेब ने कहा था—'अभी दूसरों पर हुक्म चलाने और हुकूमत करने की आदत नहीं गई
तुम्हारी!'

मुझे भूख ही न लगती। चारों ओर नौकर—आया, माई, बावर्ची, चौकीदार,
धोबी, जमादार आदि से घिरे मेरे रोबीले—रौनकी और हुकूमती अतीत के सामने सूना
वर्तमान दिनभर भूखा-प्यासा विसूरता पानी भरता रहता। कोई नजर ही न आता जिस पर
हुक्म दाग पाती, रोब डाल पाती, डांट-डपट कर पाती, नुक्ताचीनी कर पाती, क्रोध उंडेल
पाती। अपने होने की निरर्थकता का कैसा कड़वा एहसास जागता! पर अहं और अहंकार
को कब तक खाया-पिया जा सकता है? उठकर कुछ न कुछ पकाना ही पड़ता—कुछ न कुछ

खाना ही पड़ता। पर अपने हाथ से पकाये हुए भोजन में स्वाद ही न आता।

तब मेरे अहंकार और हुकूमती तथा हिकमती स्वभाव ने सोचा—इतना बड़ा मकान है दो कमरों का ! मंगला (मां), सोमा (भाभी) और उसकी लड़की सरन यहीं रह लेंगी। पड़ी रहेंगी एक कमरे में ! उनका भी वक्त निकल जाएगा और मेरा भी काम बन जाएगा।

मैंने खत लिखा…!

…और वे तीनों आ गईं ! मेरा शासन लौट आया !

मंगला और सोमा दोनों ही गंदगी, आलस्य और बैठकर खाने की लम्बी बीमारी से जकड़ी हुई थीं। दिन में चार-चार बार उन्हें चाय की जरूरत होती । कई किस्म के बरतन सजे हुए हैं इस दुनिया की रसोई में। उनका मेरे पास मन ही न लगा। मैं कुछ पूछती-कहती तो वे उत्तर दे देतीं—नहीं तो चुप रहतीं। उनमें इतनी हिम्मत कहां थी कि वे पहले मुझसे बोलें या बातचीत करने बैठ जाएं। हमारे बीच उस रात की एक ऐसी दूरी थी जिसे पाटा नहीं जा सकता था।

उनके यहां रहने से—उन्हें देखते ही मुझे गुस्सा आ जाता। उनकी आदतें ही मुझे अच्छी न लगतीं। जहां जड़ में ही कोई कीड़ा सुरसुराता हो—वहां तना किस प्रकार स्वाभाविक रूप में रह सकता है ? मैं क्या कहूं ? इस पर मेरा बस नहीं। यह कैसे जन्मजात वैरभाव का रिश्ता हो। उस ओर के लोग जितने वक्त तक मेरे पास रहते हैं—वह वक्त एक तनाव—एक क्रोध—और बेगानेपन में बीतता है। न जाने क्या होता है उनके आने से ? मैं सहज़-शांत-तटस्थ-प्रसन्न नहीं रह पाती। मेरे अन्दर जैसे एक क्रूर दैत्य जाग उठता है। कोई न कोई अगली-पिछली नाराजगी-शिकायत किसी-किसी बात-बेबात को लेकर फुफकारने लगती है। मैं उन्हें सहन नहीं कर पाती। उनके लिए मेरे इस व्यवहार में कुछ भी नया नहीं। वे सब वर्षों से मेरे इस व्यवहार-दबदबे के आदी हैं। सहज-शांत होने में समय लगता है मुझे। उतनी देर मैं चुपचाप बैठी अखबार या पुस्तक पढ़ती रहती हूं। साथ ही मैं यह भी नहीं चाहती कि वे लोग यह समझें कि अब मैं उनके भरोसे और आसरे पर हूं—अब मेरा उनके सिवा और कोई नहीं। उन्हें दबा कर रखना ही ठीक लगता है मुझे। मैं उनसे नहीं—वे मुझसे डरें-दबें, मैं यही चाहती हूं। उन्हें मेरी ज़रूरत हो सकती है, मुझे उनकी नहीं। मुझे उनकी जरा परवाह नहीं—यह एहसास उन्हें बना रहना चाहिए—इसी में मेरी सुरक्षा है। कई बार बनावटी कठोरता भी धारण करनी पड़ती है। यदि ऐसा न किया जाए तो यह विशाल दोमुंहा संसार जीवन में अड़चनें पैदा करता है। मैं उनके सामने कमजोर नहीं पड़ना चाहती।

सोमा का बेटा सतदेव जब छोटा था तब उसे संभालने और ठीक राह दिखाने वाला कोई नहीं था। तब अपनी समझ के अनुसार पता नहीं ठीक या गलत राह दिखाई थी। अब अपने पैरों पर खड़ा हो गया है। नौसेना में अच्छे ओहदे पर है। जो इच्छा हो—या जो ठीक लगे करे। मैं अब उसमें कोई दखल नहीं देती। अपनी अच्छाई-बुराई का अब आप जिम्मेवार है। वह बहुत अच्छा-मीठा-शरीफ़ और आज्ञाकारी है। उसकी योग्यता, सेवाभाव, सहनशीलता तथा नम्रता जैसे गुणों ने मुझे मोह ही रखा है। जहां मनुष्य को सुख मिलता है—उधर उसका झुकाव हो जाता है। शायद इसी सुख के ही कारण मन में बहुत प्यार है उसके प्रति। वह हमेशा मेरी जरूरत के अनुसार अपने को ढाल लेता है और सब कुछ गलत-ठीक

सहकर भी आगे से कोई जवाब देना या सफाई देना या मांगना तो जैसे उसने जाना ही नहीं। डांट सहकर भी मुझसे न कभी रूठा और न खुलकर मेरी ओर देखा। वह मेरे दिल का सारा कामकाजी भार बिना मेरे कहे चुपचाप अपने ऊपर ले लेता है और मुझे हलका कर देता है। ऐसा कौन है जिसे रात को दस बजे गुस्से में आकर घर से बाहर निकाल दिया जाए और दूसरे दिन आकर पूछे—'आप कैसी हैं ?' 'ठीक तो हैं ?' और फिर खत में लिखना—'परम कृपालु !'

कभी लगता है वह मनुष्य नहीं है और न ही देवता है। वह क्या है—यह न मैं जानती हूं और न वह आप ही जानता है। उसके अब तक के सारे जीवन में से मुझे कोई भी न सुख देने वाली बात याद नहीं आती। यदि वह इतना अच्छा न होता—जीवन में एक बार भी मेरी अवज्ञा कर जाता तो मुझे उसके प्रति कठोर होने में कुछ आसानी अनुभव होती। जीवन में पहली बार ऐसा हो रहा है कि उस ओर के किसी व्यक्ति के सामने कठोर होने में मुझे कठिनाई अनुभव होने लगी है। उसके प्रति मन में अथाह प्यार होने पर भी मैं उसे जाहिर नहीं होने देती। अपने इस लगाव की कमजोरी को छिपाए रहती हूं उससे। लगता है इसी में मेरी सुरक्षा है। उसके मेरे सम्बन्ध जालिम-मजलूम के हैं। जब कभी आया, दो-तीन घंटे रहा रोटी खाई, सो रहा—जागा और चल पड़ा अच्छी तरह झाड़-पोंछ करवा कर। इधर-उधर की किसी बात पर या किसी काम के प्रति लापरवाही के कसूर पर दिल तुड़वाकर। पूरी खुली सांस बाहर सड़क पर ही जाकर लेता है। पता नहीं वह क्या सोचता या महसूस करता होगा ? बाप के प्यार के अभाव से उत्पन्न उसके चेहरे पर का एक गम्भीर बुझापन अभी तक नहीं गया। मां-बाप के प्यार का कोई एवजी नहीं हो सकता।

सतदेव जब से नौकरी वाला हो गया था—तब से दो सौ रुपये हर महीने मंगला-सोमा को भेजता था। दोनों सास-बहू अब बैठकर खातीं और निकम्मी लड़ती-झगड़ती रहतीं। सोमा ऊपर से दमे की मरीज और सर्दियों में उठकर बैठना भी न चाहती—स्नान और सफाई तो दूर की बात है। मुझे यह बेकायदगी पसंद नहीं थी। साथ ही उनकी हर वक्त की कुड़-कुड़ भी मुझे अच्छी न लगती।

इस तरह न उनका मेरे पास मन लगा न मेरा उनके साथ मन लगा। लगभग दो हफ्तों के बाद सरन को यहीं छोड़कर वे जाने की तैयारी करने लगीं। मैंने कहा—"जाना है तो ठीक है—जाओ ! मैं कल सुबह बाहर जाऊंगी काम से। पीछे से चली जाना।"

शाम को लौटी तो सरन को यहीं छोड़कर वे जा चुकी थीं। मेरा अहं यह कैसे सह सकता था कि वे विदा होतीं और मेरी आंखों में जज़बात और असहायता के आंसू आ जाते—या मैं कमजोर पड़ जाती या उदास हो जाती।

जाते-जाते मंगला समझाती रही—"उस पीछे वाले इतने बड़े कमरे में मत सोना। एक तरफ पड़ जाता है। सड़क से लगे उस कमरे में सोना।"

मैंने कहा—"डरो तुम ! मैं नहीं डरती ! मैं तो यहीं सोऊंगी !"

"जैसी तुम्हारी इच्छा !"—उसने कहा।

दौड़ता हुआ व्यक्ति एकदम से नहीं रुक सकता। निशान तक पहुंचकर भी रुकने से पहले कुछ कदम तक दौड़ता चला जाता है सहज भाव से। कल सुबह तक व्यक्ति नौकरी की कठिन जिम्मेवारी के योग्य था और आज सुबह बूढ़ा हो गया है—अयोग्य और असमर्थ हो गया

है—यह बात मन कैसे एकाएक मान ले और निठल्ला होकर बैठ जाए ? सो मैंने एक प्राइवेट स्कूल में नौकरी कर ली थी। नौकरी करने की आदत और मन को व्यस्त रखने के लिए उसकी जरूरत उतरने में वक्त तो लगता ही है। सुबह नौ से शाम साढ़े चार बजे तक स्कूल का वक्त था। सरन दिन भर पीछे अकेली होती। मुझे उसकी चिंता बनी रहती। विवाह योग्य उम्र थी उसकी। इसलिए मैं अब उसे रखना नहीं चाहती थी। इस तरह दिन भर अकेला रहना उसका ठीक नहीं था।

मंगला को लिखा कि उसे आकर ले जाए। मंगला की सेहत अब कुछ अधिक निढाल हो गई थी। कुछ दिन रही। फिर कहने लगी—"सांसों का भरोसा कोई नहीं अब। यदि सांस यहां निकल गये तो तुम से क्रिया-कर्म का सारा काम सम्भाला नहीं जाएगा। परेशानी होगी बहुत। यदि न भी निकले तो भी तुम सुबह की गई शाम को लौटी। पीछे से कोई मुझे पूछने वाला तक नहीं। मुझसे अब काम होता नहीं और तुम थकी हुई स्कूल से आकर कैसे घर का सब काम कर सकोगी ? सो कृपा करो और मुझे वापिस भेज दो।"

यहाँ से सरन को लेकर जाते समय वह रोने लगी और कहने लगी—"मेरी तुम्हें तब जरूरत पड़ी है जब मैं कुछ करने योग्य नहीं रह गई।" पर उसकी इस भावुकता और रोने से मुझे कोई मतलब नहीं था। मैंने दागा—"इस तरह रोने-धोने की यहाँ कोई जरूरत नहीं।"

जब स्कूल से शाम को लौटती तो छः-सात ताले खोलने पड़ते थे। मन को बड़ी परेशानी होती। कोठे पर से पड़ोसियों के बच्चे आंगन में कई प्रकार का गंद और रोड़े-पत्थर फेंक देते, घर खाली समझ कर। कोठे की सीढ़ियों के पास दरवाजा भी नहीं लगा हुआ था। रसोई वाली खिड़की जो बरामदे में है.....उसमें से आदमी आराम से अन्दर आ सकता था। उसके दरवाज़े आदि का भी कुछ बन नहीं पाया था, दो तख्ते देकर आती बिल्ली आदि से बचाव के लिए। आदमी से तो कोई बचाव हो नहीं सकता ! एक दिन पास का एक घर छोड़कर दूसरे घर में चोरी हो गई थी। पता ही नहीं लगा किसी को कि कोई किस वक्त आकर उनके कपड़े तक ले गया।

छोटे काम के लिए मजदूर-मिस्त्री मिलना कठिन हो गया है आजकल। दुगुने-तिगुने पैसे देकर भी—अनुनय-विनय करने पर भी कोई काम नहीं करता। कोई एकाध काम किसी ने करवा दिया। सारी कमियां कौन पूरी करता है ? कहां से ढूंढू मिस्त्री और कहां से खरीदूं लकड़ी ? यही काफ़ी था कि सिर छुपाने के लिए छत मिल गई थी। सच पूछो तो मेरा दिल भी कुछ करना नहीं चाहता था—इसीलिए ये काम मुझसे हो नहीं पा रहे थे।

छोटी बहन माया की बेटी का उन्हीं दिनों विवाह था। बारात इसी शहर से जा रही थी। पर मुझे क्या जाना था ? न आगे ही कभी गई हूं। पहले नौकरी में और अब पहले से भी अधिक बुरी तरह फंस गई थी। जो दो बरतन रोटी पकाने के लिए तथा चार कपड़े पहनने के लिए थे उनकी संभाल ही अब कठिन हो गई थी। झुग्गी अधूरी होने के कारण मैं उससे बंध गई थी।

आठ-नौ महीने बाद मई में नौकरी छोड़ दी। प्राइवेट स्कूलों वाले बनिये—पैसे की औलाद होते हैं ! अच्छा ही हुआ ! मुझे पैसे की जरूरत नहीं। कौन-सी जिम्मेवारियां निभानी हैं ? मेरी जरूरतें इतनी ज्यादा नहीं कि पूरी न हो सकें। आवश्यकता के अनुसार जरूरतें और कम कर लूंगी।

उस समय तो मंगला-सोमा और फिर सरन का जाना बुरा लगा था—उनके जाने से तन-मन को असुविधा भी बहुत हुई थी, पर आज सोचती हूं तो देखती हूं, जो कुछ हुआ—अच्छा हुआ। वे यहीं रहतीं तो सारा काम वही करतीं। मैं बैठी हुक्म चलाती रहती और खीजती रहती। इससे मेरा अहं तो संतुष्ट हो जाता—पर शरीर-मन चौबीस घण्टे बैठे-बैठे कई दृश्य-अदृश्य रोगों से ग्रस्त हो जाते—जीवन को जंग लग जाती। अब उन्हें एक पल निठल्ला नहीं मिलता बैठने या व्यर्थ सोचने का। जीवन बड़ा आनन्दमय जा रहा है। पिछला दिमागी बीमारी वाला जीवन भूल चुका है। कभी याद ही नहीं आता। पहले सोचती थी—यह नौकरी वाला जीवन इतना व्यस्तता से भरा है कि चौबीस घंटे सिर पर से जिम्मेवारी ही नहीं उतरती। शायद खाली होकर समय काटना कठिन लगेगा। पर धीरे-धीरे वह सब कुछ भूल ही गया है। अब कोई समय फालतू रहा ही नहीं। इस तरह से सब कुछ तय हुआ है कि शाम को जरा बाहर घूमने का भी दिल करता है। सुन्दर-खुली सड़कें साफ़-सुथरी हैं—पर जा नहीं सकती, यह अलग बात है। अपने इस नये तरह के अकेलेपन तथा समय के अनुसार हालात के साथ समझौता कर लिया है जिस कारण कोई दुःख अनुभव नहीं होता। सुख ही सुख है!

मेरे निकट केवल मैं ही रह सकती हूं यहां। कोई दूसरा नहीं रह सकता यहां सहज भाव से। किसी दूसरे के यहां आते ही हवा मैली होने लगती है। दूसरे व्यक्ति को मिलेगा यहां दम घोटने वाला तल्ख़-सख़्त, रूखा-सूखा वातावरण। जेल से भी ऊंची दीवारों का वातावरण। शक्की और सावधान नज़र सिर से पैर तक नाप-जोख और सेंसर करती हुई। जरा भी आज़ादी नहीं! जरा भी मनचाहा नहीं! जरा भी छूट नहीं! कोई दूसरा यहां नहीं जी सकता अपनी ज़िंदगी—अपनी तरह की ज़िंदगी—अपनी तरह से ज़िंदगी। जीना है तो उसे मेरा खींचा हुआ ज़िंदगी का ढंग जीना होगा—अस्तित्वहीन—आज्ञाकारी ज़िंदगी। दिनचर्या मेरी होगी—दूसरे को उसमें अपने आपको दाखिल करना होगा। एक सांचे में ढली हुई ज़िदगी। एक भरती की ज़िंदगी। अपने सामने मैं किसी का अहं—व्यक्तित्व—रोब बरदाश्त नहीं कर सकती। मेरी कठोर-कड़वी बातों को, डांट-डपट को, नुक्ता-चीनी को आया-गया करते रहना होगा और हंसते-मुसकराते रहना होगा जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। एक मिजाजपुर्सी का-सा वातावरण। यहां न सवाल का सवाल है—न जवाब का जवाब है। इसीलिए मेरा रिश्ता दूर से निभ जाता है—पास से अधिक दिन तक नहीं निभ सकता।

माना कि कड़ुवाहट सख़्ती और बेमुरौवती है। पर जीवन में मिठास-कोमलता-प्यार आने की कोई राह भी तो नहीं थी—और न मैंने ही अपनी ओर से कोई ऐसी राह बनाने की कोशिश की। सुरक्षा के अतिरिक्त दूसरी किसी बात या आवश्यकता की ओर पूरा ध्यान ही नहीं जा पाया कभी। मेरे सामने हर चीज से ऊपर सुरक्षा का सवाल ही मुख्य रहा है—शेष सब गौण। मेरी सारी ज़िंदगी सुरक्षा और अपने बचाव के यत्न में ही बीती है। सारी ज़िदगी सुरक्षा की ही तलाश रही है। मैंने सारी ज़िंदगी एक ही लड़ाई लड़ी है और वह है असुरक्षा और सुरक्षा की लड़ाई, अपमान और मान की लड़ाई। इसी में मेरी अधिक शक्ति लगी है। जीवन की बाकी सारी लड़ाइयां इसी एक लड़ाई के नीचे, दबी कराहती दम तोड़ती रहीं—हारती रहीं। उनके लिए लड़ने को न वक्त बचा—न ताकत—और न उत्साह। जैसे मजदूर सारी ज़िंदगी हर रोज पेट भर सकने की चिंता में ही जीता-जीता चुक जाता है उसी तरह सुरक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई और चीज मुझे नज़र न आई। मेरी ज़िंदगी का एक ही शीर्षक है—एक ही सवाल है—सुरक्षा! दूसरों से अपनी सुरक्षा—अपने आप से अपनी सुरक्षा!

अपनी सुरक्षा के लिए जीवन इतनी चौकसी में बीता है कि उसने दूसरों पर से विश्वास—विश्वास की मिठास की कोमलता और नम्रता को सुखा-बुहार दिया है। जब मां-बाप पर से विश्वास डोलता है तो सारी दुनिया पर से विश्वास डोल जाता है। तब या तो खुद ज़हर खाकर रहो—या सारी जिंदगी दूसरों को ज़हर खिलाते रहो ! पहले मैंने खुद ज़हर खाया और फिर दूसरों को खिलाया। इस संसार के सिक्के के स्थूल और सूक्ष्म दो पहलू हैं। साकार-स्थूल सहारे नहीं मिले तो निराकार-सूक्ष्म सहारे को थाम लिया। अहं का सहारा, अहंकार का सहारा, स्वाभिमान का सहारा, पत्थर दिल कठोरता का सहारा, हठ का सहारा ! जालिम-से-जालिम व्यक्ति भी, अकेले-से-अकेला व्यक्ति भी किसी-न-किसी सहारे के बल पर जीता और चलता है—अपने उसी दृश्य-अदृश्य सहारे के बल से ही वह दुनिया को हराता और हैरान-परेशान करता रहता है ! □

महिला महाविद्यालय, गांधीनगर, जम्मू के प्रांगण से

अनामिका

□ आशा रानी

तुम वह बिन्दु हो,
तुम वह निशा हो,
जो मेरा केन्द्र है,
गति का
जीवन का
आशाओं का !
तुम वो बिन्दु हो !
जिसके चारों ओर
मेरी आशाएं परिक्रमा करती हैं
पर तुम हो कहां ?
इस भीड़ में आंखें तलाशती हैं
सिर्फ तुम्हें
दिल की हर धड़कन में गीत है
हर सांस पुकार रही है !
"सिर्फ इसलिए"
शायद ! तुम मिल जाओ···
तुम पर इतनी आस, इतना विश्वास
जिसकी कोई सीमा नहीं, अन्त नहीं···
बता पाओगे—
क्यों ? □

आशियाना

□ निर्मल

मैंने एक आशियाना बनाया है
इसमें अपने सपनों को सजाया है
ये वे सपने हैं जो शायद ही पूरे होंगे
पूरे होकर भी सपने अधूरे ही रहेंगे
दुनिया हंसेगी इन सपनों पर मेरे
इन आशियानों पर
परन्तु दुनिया का क्या है, वह तो हंसती है
हर आशियाने पर
हर बेगाने पर
हर दीवाने पर,
दुनिया की परवाह न करके
मैंने भी इक
आशियाना बनाया है,
जिसे मैंने अपने सपनों से सजाया है। □

दो लघु कथाएं

मृगतृष्णा

□ अरविन्द आनन्द

आज आम दिनों के विपरीत रघु जल्दी घर की ओर चल दिया। शराब के नशे में चूर लड़खड़ाते कदम व सिगरेट से चिपकी अंगुलियां लेकर। साथ में बड़बड़ाता जा रहा था, "साला ! खसम बना फिरता है। रोज हरामी की जोरू के साथ हमबिस्तर होता रहा। आज न जाने कहां से आ टपका। हट् !"

घर पहुंचकर बूढ़ा-सा किवाड़ जोर-जोर से खटखटाने पर स्वयं ही खुल गया। अन्दर कमरे में आया तो देखा कि बिस्तर के तेवर बदले हुए थे, खाट के पास जलती सिगरेट का एक टुकड़ा हल्के-हल्के सुरों में सुलग रहा था, चारपाई के नीचे खाली पौवा व एक गिलास मानो उसी को ताक रहे थे। फर्श पर कुछ नमकीन उसको अंगूठा दिखा रही थी। खड़ा ही रह गया वह, टांगें कांपने लगीं। आंखों के आगे अन्धेरा-सा छा गया।

सब कुछ उसे वैसा ही लग रहा था जैसे कि वह जमना के कमरे में उसके पति के अचानक आ जाने पर छोड़ आया था, उसका सारा नशा हिरन हो गया। वह चाहकर भी अपनी पत्नी को पुकार न सका। केवल वहां पड़े हुए कदमों के निशानों में अपने पांव का वह अक्स ढूंढने में लग गया जिसे शायद जमना का पति भी ढूंढ़ रहा होगा ?

फर्ज बनाम मजबूरी

आज मैं पुलिस की वर्दी पहने, डी० एस० पी० का बिल्ला लगाकर अपने आदमियों (पुलिस वालों) के साथ एक कॉलेज के बाहर खड़ा था। पास खड़ी जीप से एक पुलिसवाला कन्ट्रोल रूम से बेतार द्वारा सम्पर्क बनाए हुए था। पुलिस की टुकड़ियां बड़ी बेसबरी से मेरे आदेश की प्रतीक्षा कर रही थीं।

कॉलेज के अन्दर विद्यार्थियों के झुंड नारे लगाते हुए पुलिस का मुकाबला करने को उतावले हो रहे थे। कभी-कभार अन्दर से कोई पत्थर या ईंट का टुकड़ा पुलिस की ओर उछाल दिया जाता। ऊपर कॉलेज की बालकनी में दो-एक प्रोफेसर भी नज़र आ रहे थे जो छात्रों की गतिविधियां देखकर आनन्द मना रहे थे। रुक-रुककर नारों की आवाज़ भी हमारे कानों से टकरा रही थी।

कॉलेज के बाहर का इलाका सुनसान पड़ा था। दुकानें बन्द हो चुकी थीं। घरों की छतों पर कुछ लोग किसी घटना के घटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इक्का-दुक्का व्यक्ति सूनी सड़क पर तेजी से गुजर जाते। सड़क पर पत्थर व ईंटों का चूरा भी नजर आ रहा था। कहीं-कहीं कांच भी दिख रहा था जो यकीनन सरकारी गाड़ियों का रहा होगा। एक जगह लकड़ियों का ढेर, जो अब कोयला हो चुका था, लगा हुआ था, जो शायद हमारे आने से पहले छात्रों ने उद्घाटन के समय जलाया होगा।

अचानक न जाने कैसे अतीत के आईने में मेरी स्मृतियां मुझे कचोटने लगीं। मैंने खुद को इन्हीं छात्रों में खड़ा पाया। मैंने देखा कि मैं भी बड़े जोश में नारे लगा रहा हूं। दूर खड़े पुलिस वालों को देखकर मेरा खून खौल रहा था। हर छात्र में एक नयी लहर थी। पुलिस का मुकाबला करने के लिए पत्थरों को इकट्ठा किया जा रहा था। अश्रु गैस से बचने के लिए कपड़े (रुमाल वगैरह) गीले किए जा रहे थे, नमक बांटा जा रहा था। सब उन सैनिकों की तरह लग रहे थे जिन्हें एक बड़ा किला फतह करने का जुनून हो। इसी बीच छात्रों के दो ग्रुप बन गए एक जो शांति चाहता था तथा दूसरा जो अपने जौहर आजमाना चाहता था, मैं भी उनमें ही एक था।

एकाएक मेरी आंखों के सामने अन्धेरा-सा छा गया, आईना चूर-चूर हो गया। स्मृतियां खुश्क हो गईं, हाथ-पांव बेबस हो गए। मेरा हाथ कनपटी के घाव से रिसते लहू पर पहुंच गया था। शायद मुझे यादों में खोए खोए छात्रों के बाहर आने व अपनी सुरक्षा के लिए टोप पहनने का ध्यान ही न रहा था।

फिर न जाने क्या हुआ मैंने लाठीचार्ज का आदेश दे दिया, और मुझे छात्रों की चिल्लाहटों व पुलिस की लाठियों के बीच अपनी चेतना लुप्त होती नजर आई। □

हाऊस-बिल्डिग-एडवांस

□ सुभाष प्रेमी 'सुमन'

दफ्तर
दफ्तर में एक कमरा
कमरे में एक मेज़
मेज़ पर एक फाईल
फाईल में एक पन्ना
पन्ने पर अंकित
अधीक्षक की अभ्युक्ति
देखते हुए आवश्यकताएं
मिस कोयल की
हाऊस-बिल्डिग-एडवांस
फिलहाल
उसे ही दिया जाये
कमज़ोर है
मिस्टर बया का केस
रिजेक्ट किया जाये··· □

हवा का झोंका

□ शिवदेव सिंह मन्हास

अलसाई-सी धूप में
चांदी-सी उजली तेरी देह
संगमरमर से तराशे तेरे अंग-अंग
रेशमी गेसू
रात की सियाही को समेटे हुए पलकें
मेरी छेड़-छाड़
और तेरा बुत बने रहना
खड़े रहना मेरे निकट
गुम-सुम चुप-चाप…
उकताने लगा हूं मैं अब !
हवाओं की तरह मुझे भी
क्यों नहीं कहती
खेल लूं कुछ पल
तुम्हारे गेसुओं से
आंचल से
या फिर छू लूं
चूम लूं तेरे अंग अंग को
हवा के झोंकों की तरह
सांसें बनकर नाप लूं
तेरे दिल की गहराई को…
शायद कभी दे दें निमंत्रण
यह गुलाब की पंखुड़ियों से तुम्हारे होंठ
इसलिए प्रयास ही नहीं किया
कभी मैंने
हवा का झोंका बनने का। □

जनमानस की सम्पदा है कविता

□ गंगा प्रसाद विमल

कविता को परिभाषित करने की कोशिशें शायद अनादिकाल से चल रही हैं। जब-जब यह काम शास्त्रकार करता है तब-तब कविता उससे आगे निकल आती है। परन्तु जब कभी सृजेता कविता के रहस्य कविता के गोपनीय को चित्रित करता है तब वह शास्त्रकारों की तरह फैसले नहीं देता बलकि कविता के अन्तरंग की पहचान का एक बिन्दु सामने देता है। कवि मनोहर वंद्योपाध्याय ने भी कविता को अपने ही ढंग से रेखांकित करने की कोशिश की है। उन्होंने आधुनिक अर्थ-संदर्भों में उसे परिभाषित करने की कोशिश में उसके स्वामित्व के प्रश्न को भी स्पष्ट किया है। विचार होना चाहिए कि कवि को, सृजनकर्म में लीन रचयिता को यह आवश्यकता क्यों पड़ती है, वास्तव में यह प्रशन आज का प्रश्न है हालांकि कविता के बारे में कवियों ने शताब्दियों पहले अपने विचार व्यक्त किए हैं। मुख्य रूप से यह आवश्यकता तब पड़ती है जब कविता के सामाजिक मूल्य पर प्रश्नचिह्न लगता है या तब जब कविता का इतना अवमूल्यन होने लगता है कि वह मात्र सज्जात्मकता का एक गौरवपूर्ण अवशेष रह जाता है। हमारे समय में ये दोनों बातें घटी हैं। जब शिक्षा, संचार साधनों और प्रचारतन्त्र का परिपूर्ण विकास सामने आया तब सहसा शब्द अथवा भाषा की सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण रचना मूल्यहीन जान पड़े—इससे बड़ी दुर्घटना और क्या हो सकती है? इसके सही प्रारूप को दिखाने की ललक इसीलिए कवि में आई है। वह उसकी रचना ही नहीं करता, सृजन के स्व-संघर्ष से ही नहीं जूझता बलकि वह उसके सही सार को अपने पाठकों तक, अपने साहित्यिक प्रियजनों तक पहुंचाना चाहता है। और इस प्रक्रिया में वह कविता के मूल्यगत स्वरूप को ठीक समझकर

कृति—सूने चौराहे पर (काव्य संग्रह)/ मनोहर वंद्योपाध्याय/ प्रकाशक—प्रवीण प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली-३०/ मूल्य—बारह रुपये पचास पैसे/ पृष्ठ—५६।

उसका प्रकाशन कर डालता है।

"जनमानस की सम्पदा है कविता"—को अभिधार्थक वक्तव्य नहीं कहा जा सकता। देखा जाय तो कविता को लेकर कवि ज्यादा संवेदनशील होते हैं. परन्तु कोई विरला ही कवि होता है जो सम्बन्धों की बुनियाद से परे होता है। वह अपनी संवेदनशीलता में यह अन्वेषित करता है कि क्या सच है ? क्या संघर्षशील मानवता का उत्स है ? और इन्हीं अन्तर्धाराओं के बीच यह अन्वेषित भी करता है कि कविता कया है, क्यों है ? कविता —वास्तव में कवि के सम्पूर्ण अस्तित्व का सार है—इस अर्थ में कि कविता में कवि अपना 'सम्पूर्ण' भाषा के माध्यम से देना चाहता है।

एक तरह से वह 'क्या है' की जिज्ञासा को रचने के दौरान अपनी आत्मगतता का विलयन करता है। मनोहर वंद्योपाध्याय की कविताएं इसलिए परिभाषा की कविताएं हैं। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि वाल्मीकि या तुलसीदास जैसे कवियों ने भी अपनी कविताओं के वृहद फलक में पूरे मानव जीवन की 'निश्चिति' को रेखांकित किया है। मनोहर वंद्योपाध्याय वहां 'नियति' को रेखांकित करते हैं—

अगर यही सच है
तो यह मानकर भी
जी लेना मुमकिन है
कम से कम उनके लिए
जिनके पास
और कोई जीने का उपाय नहीं।

मुझे लगता है
मेरी हार ने हारकर
आत्मसमर्पण कर लिया है।

परन्तु मनोहर वंद्योपाध्याय 'एकान्त' के कवि नहीं है। वे इसी आधार पर अपने पूर्ववर्तियों और समकालीनों से पृथक हैं। न वहां कोई आत्ममुग्ध स्थिति है, न निजी पीड़ा का अतिरिक्त बखान, न औदास्य का अर्थहीन प्रसार अपितु वे दूसरों को सम्बोधित कविताएं हैं। छिपे तौर पर उन लोगों को सम्बोधित हैं जिन्होंने अबोध रूप में कविता को मानव चेतना से अलगा कर मात्र हृदय की वस्तु बना डाला है। बल्कि वे तो घोषणा करते प्रतीत होते हैं कि कविता व्यक्ति का स्वाद बेशक हो वह 'जनमानस की सम्पदा है।' यह एक तरह से कविता जैसी विधा के प्रति आभार प्रकट करना है, आभार इसलिए कि आदमी जैसे-जैसे प्रकृति (नैसर्गिक) से दूर होता गया है वह मानव सत्य से भी दूर होता गया है। तमाम विसंगतियों के रहते वह सत्य अपनी चमक जैसे मनोहर वंद्योपाध्याय की वाणी में लौटा ले आता है। मनोहर सीधे-सीधे 'विषयों' की मूल चेतना को काव्याधार बनाते हैं—

आपने
इन पत्तियों को
हाथ में कुचल डाला है
असहाय निर्जीव समझ कर।

और अब हरे खून के
हरे धब्बों को देखकर
खुश हो रहे हैं आप।

उनकी कविता में 'काव्यार्थ' को संप्रेषित करने की प्रवृत्ति भी यही है। और यह 'वृत्ति' उनकी भाषा को अधिक प्रखर, संगत और प्रासंगिक बना डालती है—

शब्द के भीतर अर्थ
और अर्थ में समाया हुआ
शब्द।
मुझे उस सामञ्जस्य की तलाश है
जो इन दोनों के टकराव से
उस रूप को दे सके...।"

वास्तव में मनोहर शब्द और अर्थ की प्रतीतियों के भीतर कहीं कविता की उपस्थिति स्वीकार करते हैं, साथ ही साथ वे अर्थ और शब्द के स्फोट के भीतर उस 'एकता' की कल्पना करते हैं जो बाहर, दृश्य जगत में नहीं है। अपनी इस मनोभूमि पर वे किसी दार्शनिक की भांति मौलिक जिज्ञासाओं की व्याखया भी करते हैं तथा एक क्लासिकी नज़रिये से वस्तुओं की आन्तरिक प्रवृत्ति का अन्वेषण करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि कविता एक ऐसा ही अन्वेषण है परन्तु क्लासिकी नज़रिये में कविता की स्थिति प्रदत्त है। आप उससे अर्थात् कविता से निश्चित अर्थ की प्रतीति ही कर सकते हैं। अर्थात् वह 'पदार्थ' (पद और अर्थ) की परिसीमाओं में किसी अर्थ की ठोस या वायवीय या काल्पनिक स्थिति पैदा नहीं कर सकती अपितु जैसा पद अपने एकार्थ में रचा गया है उसी के अनुरूप अर्थ वह दे सकता है। इसकी अपेक्षा मनोहर बंद्योपाध्याय कविता से बहुत बड़ी अपेक्षा रखते हैं—

"आप मानें न मानें
आपके दुस्साहस से
संकट में सांस ले रही है कविता
............"

यह अपेक्षा ही है जो मनोहर बंद्योपाध्याय की कविता को सीमित, संकुचित नहीं बनाती। वह उसे अधिक खुला रूपाकार देती है। उसे 'क्लासिकी' प्रश्नों पर आधुनिक दृष्टि से परखने वाली कवित्वमय दृष्टि के रूप में स्थापित करती है।

"रात की सड़क
समय के शून्य में
लुप्त है",

जैसे एक विलुप्त भाव का अनुसंधाता कवि जानता हैं कि कोई चीज कहां छूटी हुई है। अपनी बुनावट में ये कविताएं, मनोहर बंद्योपाध्याय की कविताएं, बिम्बों का चामत्कारिक संयोजन लगती हैं। वे एक सूत्र से स्फुरित होकर दूसरे सूत्र के आवरण में जैसे कहीं खो जाती हों। उनकी यह प्रतीति उन्हें एक विचित्र प्रकार की कविता के रूप में स्थापित करती है। वास्तव में

यही प्रतीति है जहां वे अपने समय के दूसरे कवियों से अलग खड़े हैं। जिन लोगों तक यह सूचना है कि वे भारतीय अंग्रेजी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर हैं, उनके मन में मनोहर वंद्योपाध्याय की अंग्रेजी कविताओं से तुलना करने की इच्छा अवश्य जागेगी और मेरी ही तरह वे भी यह हासिल करेंगे कि अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में वे अलग किस्म के कवि हैं। न उनकी अंग्रेजी कविताओं पर हिन्दीपन का प्रभाव है—न उनकी हिन्दी कविताओं में कहीं अंग्रेजी कविता के मुहावरे का असर दो भाषाओं में अपना पृथक् व्यक्तित्व लिये—वे एक ओर हिन्दी कविता को भाषागत नव्यता से पुष्ट कर रहे हैं दूसरी ओर अंग्रेजी कविता को शुद्ध भारतीय काव्य परम्परा की एक सशक्त धारा के रूप में एक और भारतीय परम्परा का श्रीगणेश कर रहे हैं। शायद हम इन सब प्रवृत्तियों के भीतरी कारण जानना चाहें—यह बेहद मानवीय जिज्ञासा है और एक काव्य रसिक की अनिवार्यता भी। पर इसका उत्तर जिस तरह स्वयं मनोहर की कविताएं जुटाती हैं—वह भी कम आश्चर्यजनक बात नहीं है—

व्यर्थ है तलाशना
कारण
हर परिवर्तन में
कोई घटना घट जाती है
अकारण।

अपने काव्यगत मुहावरे में मनोहर वंद्योपाध्याय एक विशेष प्रकार की ताजगी के कवि हैं। ठीक जैसे उनकी काव्य विषयक चिन्ताएं तो बहुत पुरानी हैं परन्तु उसके प्रसंग एकदम नये, समसामयिक हैं। शांति, क्रांति, बदलाव, गुस्सा तो उनकी कविताओं में मूल विषय के रूप में आते ही हैं, वहां अपने आस-पास के प्रति एक नागरिक की चिन्ता भी मिलती है। "गंदे नाले के इस पार" या "सूने चौराहे पर" ऐसी ही कविताएं है जिनमें बेहद समसामयिक प्रश्नों पर वे विश्लेषणपरक टिप्पणियां देते हैं।"

मनोहर वंद्योपाध्याय की कविताएं अपने नयेपन के कारण तो महत्त्वपूर्ण हैं ही वे रचना के खुलेपन के कारण भी महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भाषा, लयात्मकता और अर्थप्रसार की कुछ ऐसी क्षमताएं हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वे कविता में बहुत कुछ कहे जाने, संभावनाओं के असीमित चित्रांकन की क्षमताओं से भरी हैं। □

शरीरतः चेक, आत्मना भारतीय कवि ओदोलेन स्मेकल

□ डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

प्राहा विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्राध्यापक ओदोलेन स्मेकल का कविता-संकलन हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रत्येक प्रेमी के लिए प्रसन्नता और गौरव का विषय है। इन कविताओं में से जो कवि झांकता दिखाई देता है, वह किसी भी तरह विदेशी प्रतीत नहीं होता। भारत के लिए कवि का प्यार ऐसा है—

"जैसे वर्षा में उमड़ी गंगा
तट तोड़ पसर जाती
वैसा मेरा प्यार
पागल, उर्वर।"

ओदोलेन स्मेकल[1] भारतीय प्रकृति की सुन्दरता से अभिभूत है। सावन के बादलों को देखकर वह मंगलगान गाता है, हिंडोले पर झूलने की आकांक्षा प्रकट करता है। कहीं महुओं के खिलने और मुर्झाने को वह अपने शब्दों में बांध लेता है।

शीतला (चेचक) पर लिखी उसकी कविता सारे हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। भारत के प्रति कवि के प्रेम के अतिरिक्त यह कविता लोकमानस की प्रवृत्तियों में उसकी गहरी पैठ की परिचायक है। यह कविता पूरी तरह से एक लोकगीत बन गई है—

"आओ, रानी, आओ
आम बौराने लगा
चंदन-लेप घिस लिया मैंने
तुम्हारी ज्वाला हरेगा वह
—बाट न मेरी देखो
शीतला की आशंका है
गांव में हमारे......।"

ओदोलेन स्मेकल की बहुत-सी कविताएं चिन्तन की गंभीरता लिये हुए हैं। इन कविताओं में कवि मानव-मात्र के कल्याण की कामना करता है। कवि की यह अभिव्यक्ति भी भारतीय परम्परा के साथ उसके लगाव और तादात्म्य की परिचायक है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कविता 'ह्वेयर द हेड इज़ हेल्ड हाई' जैसे भाव स्मेकल की कविता 'जहां जीना कहलाता सुख' में व्यक्त हुए हैं। इस कविता की विशेषता यह है कि बिम्ब-योजना में प्रयुक्त सभी तत्त्व भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के हैं :

"जहां
मां का अन्तःकरण
अकाल से नहीं डरता
और बच्चे को न लगे भूख
जहां
गंगाजल
हरियाली से मरुस्थल भरता
वहां
जीना कहलाता सुख।"

ओदोलेन स्मेकल इस बात में विश्वास नहीं करता कि क्रूर हृदय को प्यार से बदला

---

१. ओदोलेन स्मेकल : मेरी प्रीत तेरे गीत : श्री शान्ति कुंज प्रकाशन, पं० २०/४ मीरा मार्ग, राणा प्रताप बाग, दिल्ली-११०००७ : मूल्य ५०/- प्रति।

नहीं जा सकता अथवा कि संस्कार या परिस्थिति से कोई हृदय इतना कठोर हो जाता है कि प्यार का हर प्रयास बेकार सिद्ध होता है। कवि के गीत और उसके प्यार का एक ही मन्तव्य है, एक ही लक्ष्य—मानव-हृदय का संस्पर्श। कवि की यह आस्था कि प्यार ही से मानव-हृदय को प्रभावित किया जा सकता है, उसके चिन्तन पर भारतीय प्रभाव को स्पष्ट करती है—

"कभी भी
न इतनी बीहड़ परती
कभी
न इतना क्रूर मरुस्थल
जहां
किसी वेला
न लगे हल
न बहे मैया
पवित्र गंगाजल।" (अभिनव कल)

समाजवादी देश का यह कवि कहीं भी सपाट-मैटीरियलिस्टिक बात नहीं करता। 'प्रातः स्मरण' कविता में वह घोषणा करता है कि मनुष्य का सुख स्वर्ण में निहित नहीं है; न ही गगनचुंबी महलों और चन्दनवनों का विलास ही उसे सुख दे सकता है। उसके मानस में जाग्रत आशा की किरण ही उसे मानवोचित गरिमा और सन्तुष्टि दे सकती है—

"चाहिए किन्तु
मनुज को
आस
आस की गोद
उसका बल
आस अम्बर-सी नीली
तीर धवल
राह सपनीली।"

स्मेकल की कविता में जनवादी विचार भी व्यक्त हुए हैं लेकिन इस अभिव्यक्ति में भी एक काव्योचित मृदुता है, मर्यादा है। यह कला-संयम उसकी कविता को खुरदरी, भोंथरी और मात्र नारेबाजी बनने से बचा लेता है। उदाहरण के लिए, 'रोके रख अपना घोड़ा' कविता ली जा सकती है। इसके तीन पदों में से एक में कवि रिक्शावाले से कहता है—थकावट दूर करने के लिए आम के पेड़ के नीचे सुस्ता लो। दूसरे पद में वह मजदूर को सेमल के पेड़ के पास बैठने के लिए कहता है और तीसरे में कथ्य को और अधिक सहज तथा सामान्य बना देता है—

"रुक
ओ घुड़सवार
सरपट दौड़ाता
घोड़ा जंगल-पार
खिला-पिला दे

उसे

ओ घुड़सवार।''

स्मेकल इस देश की भाषा-समस्या पर भी विचार करता है। हिन्दी को वह अपनी 'कर्म-भाषा' मानता है और कहता है, ''इस वाणी में ओज व तेज ही नहीं, असंख्य उषाओं की असंख्य अरुणिमाएं भी सन्निहित हैं।'' ओदोलेन स्मेकल उन भारतीयों को देखकर हैरान रह जाता है जो अपनी भाषा को हीन मानता है—

''निष्प्राण हो गया वह सार्वभौम प्राणी
विदेशी बोली में प्रवीण
निजी माता की वाणी को
तुतलाता
लंगड़े-लूले तोते के समान।' (मरीचिका भारत की)

हिन्दी भाषा पर स्मेकल का पूरा अधिकार है। लोकगीतों से लेकर डिस्को तक का प्रयोग उनकी कविताओं में हुआ है। कहीं-कहीं ऐसे प्रयोग दिखाई दे जाते हैं जो परिनिष्ठित हिन्दी के पाठक को नये लग सकते हैं लेकिन जहां-तहां इन्हीं अनोखे रंगों की छटा हिन्दी-रूपी माला का सौंदर्य है। □

शुभ स्वागतम् ! अथ स्वागतम् !!
हिंदी-कविता का नवा दशक

□ डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

बहुत दिनों से 'नयी' हिन्दी कविता एक आरोप सहती आ रही है कि सम्प्रेषण की कसौटी पर यह असफल सिद्ध होती है, कि अपनी दुरूहता के कारण यह पाठक से कटती चली जा रही है। प्रसन्नता की बात है कि नवें दशक की कविता अनावश्यक दुरूहता का केंचुल उतार कर आगे बढ़ने लगी है। डॉ० नीलिमा सिंह की कविताओं का संकलन 'धूप के दर्पण में'[1] इस कथन की गवाही का प्रामाणिक दस्तावेज है।

इस संकलन की कविताएं एक और आधार पर भी प्रशंसा की अधिकारी हैं। आज, जब हिन्दी-कविता आन्दोलनों के झण्डों-तले अपनी सहज सुन्दरता खो रही है, नीलिमा जी की

कविताएं सामान्य ढर्रे से अलग चलकर उस सुन्दरता की रक्षा कर लेती हैं। इनमें नारी हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है—सरल भाषा में।

इन कविताओं का प्रमुख स्वर आधुनिक नारी की द्वन्द्वात्मक चेतना है। एक ओर उसके अहं की जागृति है तो दूसरी ओर समर्पण और विसर्जन की अभिलाषा है। एक अन्य धरातल पर वह सामाजिक अन्याय के प्रति क्रुद्ध है, पुरुष की दासी बनने के लिए वह बिल्कुल तैयार नहीं है। वह व्यक्तित्व, अपनी अस्मिता की पहचान और अभिव्यक्ति के लिए लालायित है।

वह देखती है कि प्रागैतिहासिक युग तक नज़र दौड़ाने से बस एक बात सामने आती है—नारी के प्रति अन्याय—

"मैं
शापग्रस्त अहल्या की तरह
पथरा रही हूं
निर्वीर्य पौरुष के संरक्षण में
द्रौपदी की तरह
हो रही हूं निर्वसन
मीरां को दिया गया जहर का प्याला
आज भी मेरे होठों को छील रहा है"

पुरुष नारी को 'देवी' आदि कहकर उसे भरमाता रहा है। पुरुष से नारी को जो भी मिला, वह पुरुष की अनुकम्पा थी। लेकिन आज नारी दया नहीं मांगती; मिथ्या गौरव का वह तिरस्कार करती है—

"जिस दिन मेरा यह दर्द
इतिहास की आत्मा को डसेगा।
डोलेंगे सिंहासन
धसकेगी धरा
उस दिन
मैं स्वयं मांग लूंगी
अपनी अस्मिता का चन्दन-वन……।"

इसी धरातल पर वह पुरुष के भोग की वस्तु बनने से इन्कार करती है। पुरुष के प्रति कवयित्री का आरोप साफ और पैना है—

"सुनो ऽऽऽ!
मैं सिर्फ औरत नहीं हूं
इन्सान हूं।
जीवित!

---

१. नीलिमा सिंह : धूप के दर्पण में : हिमाचल पुस्तक भण्डार, ix/६६३५, जगत निवास, निकट महावीर चौक, प्रेम गली, गांधी नगर, दिल्ली ११००३१ ; मूल्य : पन्द्रह रुपये।

जाग्रत !
संवेदनाओं से स्पन्दित……।"

लेकिन नारी-जीवन का एक दूसरा धरातल भी है और इस धरातल का नीलिमासिंह बहिष्कार नहीं कर पाई हैं। जिस समर्पण के संदर्भ में वह घोषित करती हैं कि यह "सिर्फ तुम्हारी सेज नहीं है", उसी संदर्भ में उसी कविता (मैं सिर्फ औरत नहीं हूं) में यह बोध उनके नारीत्व का दूसरा धरातल प्रस्तुत करता है—

"उन दुर्लभ क्षणों में
मैं
देह नहीं रह जाती हूं
बन जाती हूं अनुभूति
साकार
साक्षात
प्यार।"

कवयित्री की यह द्वैध-भावना उसकी कविता के सौन्दर्य को घटाती नहीं; उसे अधिक सहज, स्वाभाविक, निश्छल रूप प्रदान करती है। कवयित्री को बोध है कि व्यक्तित्व के दो पक्ष होते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिकता के स्तर पर वह प्यार और समर्पण के क्षणों को, उनके बीत जाने पर भी वर्डस्वर्थीय दार्शनिकता से एकान्त में भोगती है। इन क्षणों के मानसिक आयाम को स्पष्ट करती हुई वह कहती है—

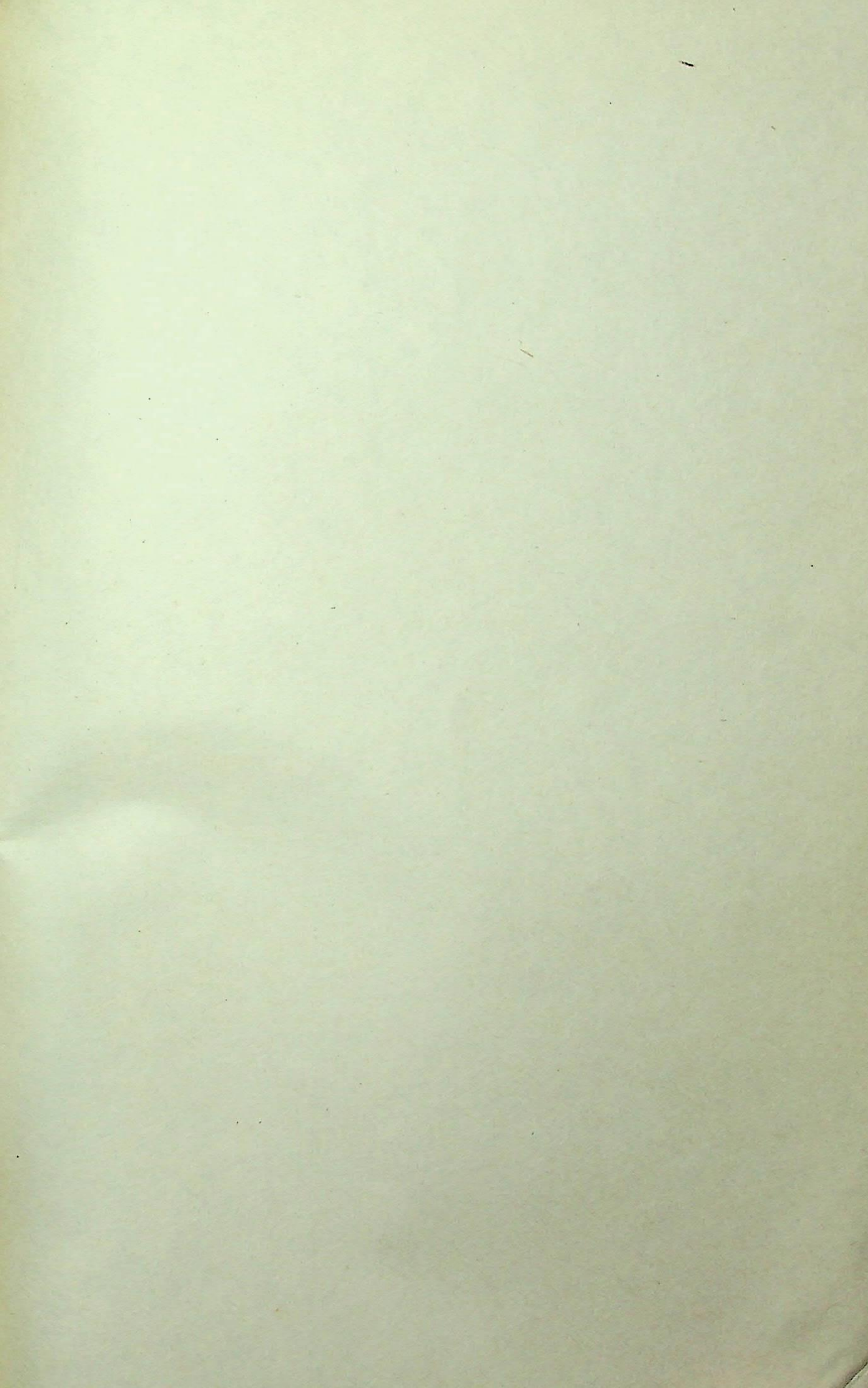
"तुमने
मेरी कुंवारी हथेली को
उस दिन प्यार से चूम लिया था …
कुछ अहसास
ऐसे होते हैं
जो क्षण के व्यतीत हो जाने पर भी
स्मृति नहीं बन पाते हैं
ज़िन्दा रहते हैं…।"

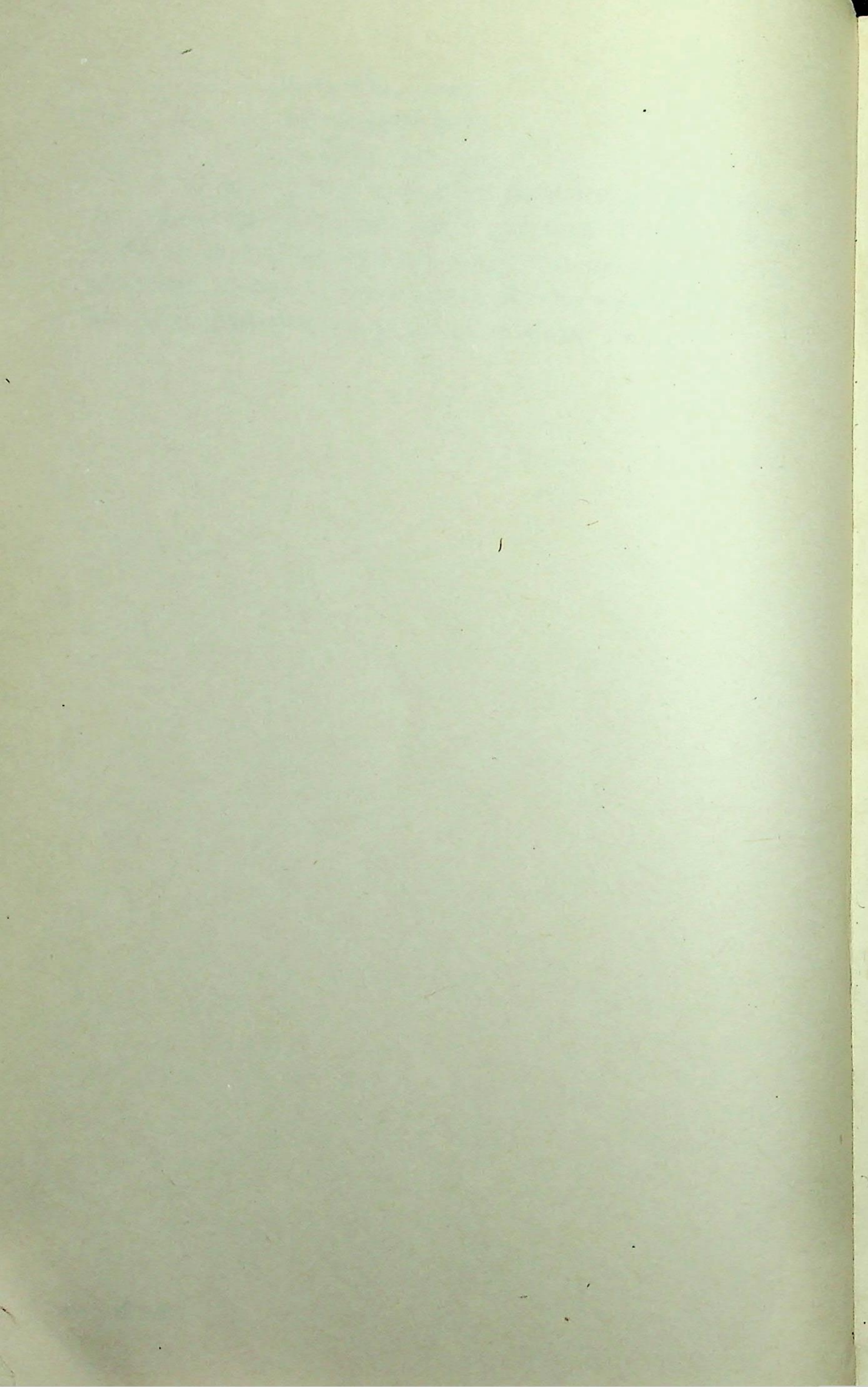
उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि व्यापक सामाजिक अन्याय के प्रति कवयित्री ने मौन धारण कर लिया है। उसे भारतीय जनता की कायरता पर सख्त गुस्सा है। इस कायरता का सबसे बड़ा कारण, कवयित्री की दृष्टि में, हमारा भाग्यवाद में विश्वास है। इसी विश्वास के कारण हम आततायी का हर जुल्म सहे चले जाते हैं। इस 'आस्था' के रहते भारत में क्रांति हो ही नहीं सकती—

"जहां के धनवान
शोषक नहीं कहलाते हैं
लोग अपनी मेहनत का नहीं
भाग्य का खाते हैं
जहां सभी के पास हो

सन्तोष की सम्पदा अपार
ऐसे तत्त्वज्ञानियों के देश में
समाजवाद क्या खाक आएगा।''

मैं पुनः कहना चाहता हूं कि डॉ० नीलिमा सिंह की ये कविताएं उस परिवर्तन का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं जो गत कुछ वर्षों से हमारी काव्य-रचनाओं में परिलक्षित होने लगा है। शब्दों और प्रतीकों के बेमेल उलझाव से बने डिजाइन किसी सरकसी खिलाड़ी को चौंका देने वाली पोशाक की तरह कविता के अंगों से फिसलने लगे हैं। जरूरत इस बात की है कि बड़े-बड़े आलोचक इन कविताओं के लिए ''शुभ स्वागतम्, अथ स्वागतम्'' गाएं। □







द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

68

वर्ष १९ / अंक ५
(दिसम्बर १९८३-
जनवरी १९८४)

•

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

•

सम्पादक
रमेश मेहता

•

पत्र-व्यवहार

सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादमी
आफ आर्ट, कल्चर एण्ड
लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग,
जम्मू ।
फोन : ५०४०

•

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-३२

•

यह अंक : दो रुपये
वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम

लेख

कहानियां

कविताएं

साक्षात्कार

स्थायी स्तम्भ